श्री रामलाल कपूर ग्रन्थमाला—३४

6.4 v2

ओ३म्

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-परिशिष्ट

ऋग्वेदभाष्य के नमूने का अङ्क, उस पर तथा भूमिका पर किए गए
आक्षेपों का ऋषि दयानन्द सरस्वती द्वारा दिए गए
उत्तर पत्र तथा ग्रन्थों का संग्रह

सम्पादक—
पं० युधिष्ठिर मीमांसक

प्रकाशक—
मन्त्री-रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर

प्रथमवार १०००

विक्रम सं० २०२४
सन् १९६७

मूल्य— 2-50

ट्रस्ट के उद्देश्य

प्राचीन वैदिक साहित्य का अन्वेषण, रक्षा तथा प्रचार
तथा भारतीय संस्कृति, भारतीय शिक्षा, भारतीय विज्ञान
और चिकित्सा द्वारा
जनता की
सेवा

ट्रस्ट के समस्त प्रकाशनों के प्राप्ति-स्थान

(१) श्री रामलाल कपूर एण्ड संस, गुरुबाजार, अमृतसर।
(२) ,, ,, ,, बारी मार्केट, सदरबाजार, देहली।
(३) ,, ,, ,, नई सड़क, देहली।
(४) ,, ,, ,, बिरहाना रोड, कानपुर।
(५) ,, ,, ,, ५१, सुतार चॉल, बम्बई।
(६) वेदवाणी कार्यालय, अजमतगढ पैलेस, वाराणसी—१

मुद्रक—
पं० बालकृष्ण शास्त्री
ज्योतिष प्रकाश प्रेस, वाराणसी

श्री रामलाल कपूर ग्रन्थमाला—३४

ओ३म्

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-परिशिष्ट

ऋग्वेदभाष्य के नमूने का अङ्क, उस पर तथा भूमिका पर किए गए
आक्षेपों का ऋषि दयानन्द सरस्वती द्वारा दिए गए
उत्तर पत्र तथा ग्रन्थों का संग्रह
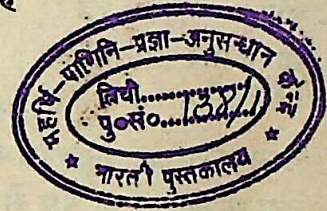
सम्पादक—
पं० युधिष्ठिर मीमांसक

प्रकाशक—
मन्त्री—रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर

प्रथमवार
१०००

विक्रम सं० २०२४
सन् १९६७

मूल्य—
~~१-५०~~
२-५०
परिवर्धित मूल्य

ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका-परिशिष्ट

विषय-सूची

प्राक्कथन

ऋषि दयानन्द सरस्वती की 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' का जब प्रकाशन आरम्भ हुआ तब पौरस्त्य और पाश्चात्य विद्वानों में उसी प्रकार खलबली मच गई जैसे किसी महान् जल से पूर्ण शान्त सरोवर में अकस्मात् भारी उल्का-पात से उत्पन्न होती है। मध्ययुगीन वेद सम्बन्धी मान्यताओं, जो कई सहस्र वर्षों से भारतीय विद्वानों में बद्धमूल चली आ रही थीं, और जिनको आधार बनाकर ईसाई यहूदी मत के पक्षपाती अनेक पाश्चात्य विद्वान् वेद के गौरव को नष्ट करने के लिए कटिबद्ध हो रहे थे, उनकी दृष्टि से ऋषि दयानन्द का यह प्रयास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और क्रान्तिकारी था।

दयानन्द के इस महान् प्रयास से अर्थात् वेद के वास्तविक महत्त्व और गाम्भीर्य को प्रकट करने वाले आर्ष-पद्धति के अनुसार वेदार्थ को प्रस्तुत करने वाले महान् कार्य से जहाँ भारतीय मध्य-युगीन परम्पराओं के प्रासाद के धराशायी होने की आशङ्का उत्पन्न हो गई, वहाँ मध्ययुगीन भ्रष्ट वेदार्थ को आगे करके वेद और वैदिक धर्म की मान्यताओं का उपहास करने वाले और उसकी ओट में वैदिक धर्म को समूल नष्ट करके भारत में ईसाई मत के प्रचार वा प्रसार का स्वप्न देखने वाले पाश्चात्त्य विद्वानों को भी अपने मनसूबे समाप्त होते दृष्टि गोचर होने लगे। इसलिए 'चोर-चोर मौसेरे भाई' की किंवदन्ती के अनुसार भारतीय और पाश्चात्त्य उभयविध विद्वानों ने दयानन्द की विचार धारा और उनके सत्य वेदार्थ और वेद के गाम्भीर्य को प्रकट करने वाले इस ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका ग्रन्थ का प्रचार वा प्रसार रोकने के लिए इस ग्रन्थ के विरुद्ध अनेक लेख वा पुस्तिकाएँ प्रकाशित कीं। इनमें आर० ग्रिफिथ, सी० एच० टानी, पं० गुरु प्रसाद, पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न और राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' तथा उनकी ओट में तीर चलाने वाले स्वा० विशुद्धानन्द वा पं० बालशास्त्री आदि प्रमुख व्यक्ति थे।

ऋषि दयानन्द सरस्वती ने इन सभी प्रमुख व्यक्तियों के आक्षेपों का उत्तर पत्र वा पुस्तिकाओं द्वारा उसी समय दिया। इन पत्र वा पुस्तिकाओं का ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ग्रन्थ के साथ साक्षात् सम्बन्ध है। इसलिए हम भूमिका के रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित संस्करण के परिशिष्ट रूप में इन्हें प्रकाशित करना चाहते थे, परन्तु कई कारणों से हम उस रूप में प्रकाशित न कर सके और अब हम उस सामग्री को पृथक् रूप में प्रकाशित कर रहे हैं। यद्यपि यह सब सामग्री ऋषि के पत्र-व्यवहार और परोपकारिणी सभा द्वारा पुस्तिका रूप में छपी उपलब्ध होती है पुनरपि ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रत्येक पाठक को इस महती उपयोगी सामग्री का, जो ग्रन्थकार द्वारा ही उस समय प्रस्तुत की गई थी, प्रायः ज्ञान न होने से वह इसके अध्ययन से वञ्चित रहता है।

यहाँ हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि ऋषि दयानन्द की वेद सम्बन्धी प्राचीन आर्ष विचार-धारा का भारतीयों और पाश्चात्त्य विद्वानों ने चाहे कितना ही विरोध क्यों न किया हो, परन्तु वह विचार-धारा धीरे-धीरे विद्वानों के हृदय में बैठती चली गई। उसने विद्वानों के मस्तिष्कों को ही न केवल आन्दोलित किया, अपितु उनके विचारों को भी बहुत सीमा तक बदल दिया। मैक्समूलर के सन् १८६६ के आस-पास के वेद सम्बन्धी विचारों की तुलना जब हम उसके सन् १८८२ के 'हम भारत से क्या सीखें?' शीर्षक व्याख्यानों से करते हैं तो दोनों में पर्याप्त अन्तर दिखाई देता है। यह अन्तर निस्सन्देह ऋषि दयानन्द की ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका और वेदभाष्य (जितना उस समय तक छपा था) के अध्ययन के कारण हुआ था। मैक्समूलर और मोनियर विलियम्स ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य के नियमित ग्राहक

थे। इनका नाम ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अङ्क ७ के अन्त में छपी ग्राहक सूची में संख्या ४०२, ४०३ पर मिलता है। उसमें इनके साढ़े चार रुपया वार्षिक शुल्क की प्राप्ति का भी निर्देश है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती का प्रो० मैक्समूलर पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा था इसका दूसरा प्रमाण है उसका ऋषि दयानन्द का जीवनचरित लिखने का संकल्प। ऋषि दयानन्द के स्वर्गवास के कुछ मास पश्चात् ही मैक्समूलर ने परोपकारिणी सभा के तात्कालिक मन्त्री पं० मोहनलाल विष्णुलाल पाण्ड्या से इस सम्बन्ध में पत्र-व्यवहार भी किया था। परोपकारिणी सभा की आदिम कार्यवाही से ज्ञात होता है कि इस विषय में सभा ने एक प्रस्ताव पास किया था जिसमें सभा ने 'सब आर्यसमाजियों को प्रेरणा दी कि जिन्हें स्वामी जी की कोई घटना ज्ञात हो तो वह प्रो० मैक्समूलर साहब को लिखें।'

हन्त! यदि सभा उस समय प्रस्ताव मात्र पास करके न रहती और स्वयं घटनाओं को संगृहीत करके मैक्समूलर को इस कार्य में सहायता देती, तो मैक्समूलर द्वारा यह एक अद्भुत कार्य होता। हमने ऋषि की महत्ता को उतना नहीं आँका जितना मैक्समूलर ने आँका था। इसका ज्ञान इसी से हो जाता है कि मैक्समूलर ने तो ऋषि के स्वर्गवास के कुछ समय पश्चात् ही ऋषि का जीवनचरित लिखने का संकल्प किया और हमने (पंजाब प्रतिनिधि सभा ने, परोपकारिणी ने नहीं) १२ वर्ष पश्चात् ऋषि का जीवन-चरित लिखने के लिए प्रयत्न किया। क्या यह हमारे लिए लज्जा की बात नहीं है?

प्रकृत विषय में मैक्समूलर प्रभृति पाश्चात्त्य और भारतीय विद्वानों के उन विचारों को जो उनके पहले थे और जो ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रकाशित होने के पीछे परिवर्तित हुए, तुलनात्मक रूप में उपस्थित किया जा सकता है, परन्तु विस्तार भय से हम उद्धृत नहीं करते।

ऋषि दयानन्द ने सं० १९३४ में ऋग्वेदभाष्य का जो नमूने का अङ्क छापा था, उसका संकेत इस भूमिका में 'वेद विषय विचार' प्रकरण में पृष्ठ ८० (यही संस्क०) पर मिलता है। यथा—

(अग्निमीळे) अस्य मन्त्रस्य व्याख्याने हि 'इन्द्रं मित्रम्' ऋङ्मन्त्रोऽयम्। अस्योपरि 'इममेवाग्नि महान्तमात्मानम्' इत्यादि निरुक्तं च लिखितं तत्र द्रष्टव्यम्। तथा 'तदेवाग्निस्तदादित्य०' इति यजुर्मन्त्रश्च।

इतना ही नहीं महेशचन्द्र न्यायरत्न आदि ने ऋषि के वेदभाष्य पर जो आक्षेप किये थे उनमें से कुछ इस नमूने के अङ्क पर भी थे। अत एव उनके जो उत्तर ऋषि दयानन्द ने दिए, उनका सम्बन्ध इस नमूने के अङ्क के साथ होने से हम उसे भी इस संग्रह में सर्वतः प्रथम स्थान दे रहे हैं। इस प्रकार यह पूरी सामग्री एक स्थान पर संगृहीत होने से पाठकों को अवश्य लाभ होगा, यह हमारा विश्वास है।

निवेदक

युधिष्ठिर मीमांसक

॥ ओ३म् ॥

॥ ऋग्वेदः ॥

अष्टक १ । अध्याय १ । वर्ग १ ॥

॥ अस्याग्नेयसूक्तस्य—मधुच्छन्दा ऋषिः, अग्निर्देवता, गायत्रीच्छन्दः, षड्जः स्वरः ॥

मू०—ओ३म् । अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म् । होता॑रं रत्न॒धात॑मम् ॥ १ ॥

पदपाठः—अ॒ग्निम् । ई॒ळे॒ । पु॒रःऽहि॑तम् । य॒ज्ञस्य॑ । दे॒वम् । ऋ॒त्विज॑म् ॥ होता॑रम् । र॒त्न॒ऽधात॑मम् ॥ १ ॥

अथ वेदभाष्यम्

अथात्र प्रथमत ईश्वर एवार्थोऽग्निशब्देन गृह्यते । अत्र प्रमाणानि—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

ऋग्वेद अष्टक २, अध्याय ३, वर्ग २२, मन्त्र ४९ ॥

अस्यायमर्थः । एकस्य सतः परब्रह्मण इन्द्रादीनि बहुधा नामानि सन्तीति वेदितव्यम् ॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपस्स प्रजापतिः ॥

यजुर्वेद अध्याय ३२, मन्त्र १ ॥

यत्सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्म तदेवाग्न्यादिनामवाच्यमत्र बोध्यम् ॥

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः । देवो देवेभिरागमत् ॥ ऋ० अ० १, अ० १, व० १ मन्त्र ५ ॥

कविः सर्वज्ञः, सत्यः सर्वदा विनाशरहितः, अत्यन्ताश्चर्य्यश्रवणश्चेत्यादिविशेषणयुक्तो मुख्यतया परमेश्वरो भवितुमर्हति नान्यः ॥

ब्रह्म ह्यग्निः ॥ शतपथ काण्ड १, अध्याय ५ ॥[1] आत्मा वा अग्निः ॥ श० कां० ७, अ० २ ॥[2] अयं वा अग्निः प्रजाश्च प्रजापतिश्च ॥ श० कां० ९, अ० १ ॥[3] संवत्सरो वा अग्निर्वैश्वानरः ॥ श० कां० ६, अ० ६ ॥[4] अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः ॥ श० कां० १, अ० १ ॥[5]

अग्निर्ब्रह्मात्मनोरत्र वाचकोऽस्ति । प्रजाशब्देन भौतिकोऽग्निः प्रजापतिशब्देनात्रेश्वरो ग्राह्यः ।[6]

एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम् ॥ श० कां० १, अ० १ ॥[7]

सत्याचारनियमपालनं देवानां विदुषां व्रतं तत्पतिरीश्वरः ॥

एष वै देवाननु विद्वान्यदग्निः ॥ श० कां० १, अ० ५ ॥[8]

तेषूभयेषु मर्त्येष्वग्निरेवाऽमृत आस ॥ श० कां० २, अ० २ ॥[9]

विद्यासंभव ईश्वरेऽस्ति नैव च भौतिके, तथाऽमृतत्वं परमेश्वर एव घटते नान्यत्रेति ॥

प्राणोऽग्निः परमात्मेति मैत्र्युपनिषदि[10] प्रपाठक ६, खण्ड ९ ॥

एष हि खल्वात्मेशानः शंभुर्भवो रुद्रः । प्रजापतिर्विश्वसृक् हिरण्यगर्भः सत्यं प्राणो हंसः शास्ता विष्णुर्नारायणोऽर्कः

---

१. शत० १ । ५ । १ । ११ ॥ २. शत० ७ । ३ । १ । २ ॥ मूले 'अ० २' प्रमादपाठः ।
३. शत० ९ । १ । २ । ४२ ॥ ४. शत० ६ । ६ । १ । २० ॥ ५. शत० १ । १ । १ । २ ॥
६. इतोऽग्रे 'देवानां विदुषां व्रतम्' इत्येतावानंशः 'एतद्ध वै' इत्युद्धरणात् प्राक्पठ्यते । सोऽस्थान इति कृत्वा यथास्थानं स्थापितः ॥ ७. शत० १ । १ । १ । ५ ॥
८. शत० १ । ५ । २ । ६ ॥ ९. शत० २ । २ । २ । ८ ॥ १०. देखो पृष्ठ ६ की टि० १ ।

सविता धाता विधाता सम्राडिन्द्र इन्दुरिति य एष तपत्यग्निरिवाग्निनापि हितः सहस्राक्षेण हिरण्मयेनाण्डेन एष वा जिज्ञासितव्योऽन्वेष्टव्यः सर्वभूतेभ्योऽभयं दत्वेत्यादि ॥ मैत्र्युपनिषदि[1] प्र० ६, खं० ८ ॥

प्राणाग्न्यात्मेशानादीनीश्वरस्य नामान्यत्र सन्तीति बोध्यम् ॥

अग्निर्वै सर्वा देवता इत्याद्यैतरेयब्राह्मणे पञ्चिका १, अध्याय १ ॥[2]

यत्रोपास्यत्वेन सर्वा देवतेत्युच्यते तत्र ब्रह्मात्मैव ग्राह्यः—

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितमिति मनुनोक्तत्वात् १२ अध्याये ॥[3]

अग्निः कस्मादग्रणीर्भवत्यग्रं यज्ञेषु प्रणीयतेऽङ्गं नयति सन्नममानोऽक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविर्न क्नोपयति न स्नेहयति त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिरितादक्ताद्दग्धाद्वा नीतात् स खल्वेतेरकारमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीःपरस्तस्यैषा भवतीति ॥ निरुक्त अध्याय ७, खण्ड १४ ॥

अग्रणीः सर्वोत्तमः सर्वेषु यज्ञेषु पूर्वमीश्वरस्यैव[4] प्रतिपादनादीश्वरस्यात्र ग्रहणम् । दग्धादिति विशेषणाद्भौतिकस्यापि च ॥

अग्निः सर्वा देवता इति निर्वचनाय, इन्द्रं मित्रं वरु० एकं सद्विप्रा ब०, इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्तीन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं दिव्यञ्च गरुत्मन्तं, दिव्यो दिविजो गरुत्मान् गरणवान् गुर्वात्मा महात्मेति वा यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यते यमेव सोऽग्निर्निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ॥

नि० अ० ७, ख० १८ ॥

अनेनोभयोर्ज्ञानप्रकाशवतोर्ज्योतिषोरीश्वरभौतिकाग्न्योर्ग्रहणमित्युभयार्थग्रहणस्येदं प्रमाणम् ॥

अग्निः पवित्रमुच्यते अग्निः पवित्रं स मा पुनातु वायुः सोमः सूर्य इन्द्रः पवित्रं ते माम्पुनन्त्वित्यपि निगमो भवति ॥

नि० अ० ५, खं० ६ ॥

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि । रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥ १ ॥

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् । इन्द्रमेकेपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ २ ॥ इति

मनुस्मृतिः, अ० १२, श्लोक १२२, १२३ ॥

पवित्रः पवित्रकर्ता परमात्मास्तीत्यतः पवित्रशब्देन परमेश्वरस्यैव ग्रहणम् ॥ तथापरः पुरुषोऽग्न्यादीनि च परमेश्वरस्यैवात्र नामानि सन्तीति बोध्यम् ॥ इत्यादिभिः प्रमाणैरग्निशब्देन परमात्मनोऽत्र ग्रहणमिति सिद्धम् ॥

(अग्निमीळे) सर्वज्ञस्सर्वशक्तिमान् न्यायकारीत्यादिविशेषणयुक्तः परमेश्वरोऽग्निः पितृवत् पुत्रान् प्रत्युपदिशति स्म—हे जीव मनुष्यदेहधारिन् ! अहम् अग्निं परमात्मानं ईळे स्तौमीति वदेति पूर्वान्वयः । ततो जीवोभिवदति—सर्वज्ञं शुद्धं सनातनमजमनाद्यनन्तं सर्वव्यापकं जगदादिकारणं स्वप्रकाशं परमेश्वरमग्निमहमीळे, स्तौमि । तस्मादन्यमीश्वरत्वेन लेशमात्रमपि नाश्रये । कस्मै प्रयोजनाय ? धर्मार्थकाममोक्षसिद्धय इति निश्चयः । अञ्चु गतिपूजनयोः , णीञ् प्रापणे , अगि गत्यर्थः , इण् गतौ इत्यादि धातुभ्योऽग्निशब्दः सिध्यति ॥

---

१. मैत्रायण्युपनिषद् शुद्ध नाम है । यहाँ के पाठ तथा 'भ्रान्तिनिवारण' में मैत्र्युपनिषद् के नाम से उद्धृत समस्त पाठ श्री पं० सातवलेकर जी द्वारा सम्पादित मैत्रायणी संहिता के अन्त में मुद्रित मैत्रायणी आरण्यक में मिलते हैं । अन्यत्र छपी मैत्रायण्युपनिषद् में सब पाठ नहीं मिलते । यदि मैत्रि और मैत्रायण नाम एक ही व्यक्ति के हों तो दोनों नामों से प्रोक्तार्थ में मैत्री मैत्रायणी पद बन सकते हैं। दाक्षि दाक्षायण आदि कुछ नाम एक ही व्यक्ति के हैं, यह इतिहाससिद्ध है ।

२. ऐत० ब्रा० १ । १ । १ ॥ शत० १ । ६ । २ । ८ ॥ ३. मनु० १२ । ११९ ॥

४. तुलना कार्या—अग्निशब्दोऽप्यग्रणीत्वादियोगाश्रयेण परमात्मविषय एव भविष्यति । शाङ्करभाष्य, वेदान्त १ । २ । २८ ॥
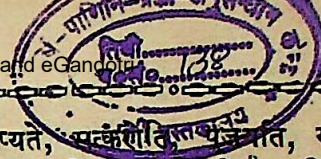
अञ्चति, अच्यते, जानाति, ज्ञायते, गच्छति, गम्यते, प्राप्नोति, प्राप्यते, सत्करोति, पूजयति, सत्क्रियते, पूज्यते, नयति, प्राप्नोति, नीयते, प्राप्यते, धर्मात्मा जनो विद्वान् तथा विद्वद्भिर्धर्मात्मभिर्मुमुक्षुभिश्चेत्यादि-व्याकरणनिरुक्तप्रमाणैरप्यग्निशब्देन परमेश्वरग्रहणे सुष्ठूक्तिर्गम्यते ॥ कथंभूतः सोऽग्निः (पुरोहितम्) सर्वस्य जगतः स्वभक्तानां च धर्मात्मनां भक्तेरारम्भात् पूर्वमेव सकलपदार्थोत्पादनेन विज्ञानादिदानेन चैनं जीवं दधाति स पुरोहितः परमात्माऽग्निः । डुधाञ् धारणपोषणयोः, अस्मात् पुरःपूर्वात् क्तप्रत्ययान्तात् पुरोहितशब्दः सिध्यति । अतएव सर्वाधारकस्सर्वपोषकश्चेश्वर एव नान्यः ॥ अत्राह निरुक्तकारः—

पुरोहितः पुर एनं दधाति होत्राय वृतः कृपायमाणोन्वध्यायद्देवश्रुतं देवा एनं शृण्वन्ति वृष्टिवर्निं वृष्टियाचिनं रराणो रातिरभ्यस्तो बृहस्पतिर्ब्रह्मासीत् सोऽस्मै वाचमयच्छद् बृहदुपव्याख्यातमिति ॥ नि० अ० २, खं० १२ ॥

(यज्ञस्य देवम्) यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु अस्माद्धातोर्नङ्प्रत्ययान्ताद् यज्ञशब्दः साध्यते । अग्निहोत्रा-द्यश्वमेधान्तस्य क्रियासमूहजन्यस्य सर्वजगदुपकारकस्य यज्ञस्य । यद्वा परमेश्वरस्य सामर्थ्यात् सत्त्वरजस्त-मसां साम्यावस्था प्रकृतिरुत्पन्नासीत् तत् प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तकार्यकारणसंगत्योत्पन्नस्यास्य जगतो यज्ञस्य । अथवा सत्संगतिकरणोत्पन्नस्य विद्यादिविज्ञानयोगादेर्यज्ञस्य । यज्ञः कस्मात्प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ता याच्ञो भवतीति वा यजुरुन्नो भवतीति वा बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवो यजूंष्येनं नयन्तीति वा ॥ निरुक्त अ० ३, खं० १९ ॥ देवं दातारं सुखानां द्योतकं सर्वस्य जगतः प्रकाशकं सर्वैर्विद्वद्भिः कमनीयम्, स्वभक्तानां मोदकं हर्षकरम् । शत्रूणां मनुष्याणां कामक्रोधादीनां वा विजिगीषकम्, विजेतुमिच्छन्तं देवम् । दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युति-स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु, अस्माद्धातोरचि प्रत्यये कृते देवशब्दः सिध्यति ॥

(ऋत्विजम्) कृल्ल्युटो बहुलमिति वार्त्तिकम् । कृत्यल्युटो बहुलमित्यस्य भाष्येऽस्ति, अतः कर्म्मण्यपि किन् । सर्वेषु ऋतुषु यजनीयं पूजार्हं यथाकालं जगद्रचकं ज्ञानादियज्ञसाधकमृत्विजम् । ऋतूपपदात् किन् प्रत्ययान्ताद् यजधातोरयं प्रयोगः ॥

(होतारम्) सर्वजगते सर्वपदार्थानां दातारम्, मोक्षसमये प्राप्तमोक्षाणां जनानामादातारं ग्रहीतारम्, वर्त्तमानप्रलययोः समये सर्वस्य जगत आदातारं ग्रहीतारमाधारभूतं होतारम् ॥ हु दानादनयोः, आदाने चेत्येके, अस्माद्धातोरयं शब्दः सिद्धो जायते । अदनं भक्षणं न, किंतु चराचरस्य जगतो ग्रहणम्, तत्कर्त्ता परमेश्वरो-ऽस्तीत्युच्यते ॥ अत्र प्रमाणम्—अत्ता चराचरग्रहणात् इति वेदान्तशास्त्रस्य सूत्रम् । अ० १, पा० २, सू० ९ ॥

(रत्नधातमम्) रत्नानि सर्वजनै रमणीयानि प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तानि ज्ञानहीरकसुवर्णादीनि च जीवेभ्यो दानार्थं दधातीति रत्नधाः, अतिशयेन रत्नधाः स रत्नधातमः तं रत्नधातमम् । रत्नोपपदात् क्विबन्ताड् डुधाञ् धातोस्तमबन्तः प्रयोगः ॥

इमं मन्त्रं यास्को निरुक्तकार एवं समाचष्टे—अग्निमीळेऽग्निं याचामीळिरध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा वा, पुरोहितो व्याख्यातो यज्ञश्च । देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा यो देवः सा देवता, होतारं ह्वातारं जुहोतेर्हो-तेत्यौर्णवाभो रत्नधातमं रमणीयानां दातृतमम् तस्यैषापरा भवतीति ॥ नि० अ० ७, खं० १५ ॥

अथास्य मन्त्रस्यान्वयो लिख्यते—पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारं रत्नधातमं परमात्मानमग्निमहमीळे स्तौमि याचामि तस्यैवाध्यन्वेषणं कुर्वे इत्यन्वयः ॥

अथ संस्कृतभाष्यस्य प्राकृतभाषयार्थो लिख्यते

(अग्निमीळे) इस मन्त्र का ईश्वराभिप्राय से जो अर्थ है सो प्रथम किया जाता है ॥ इस मन्त्र में अग्नि शब्द से परमेश्वर का ग्रहण होता है । इस के ग्रहण में "इन्द्रं मित्रं वरुण" इत्यादि यथालिखित प्रमाण का आधार है । सब जगत् को उत्पन्न करके, संसारस्थ पदार्थों का और परमात्मा का जिससे यथार्थ ज्ञान होता है, उस सनातन अपनी विद्या का सब जीवों के लिये, आदि सृष्टि में परमात्मा ने उपदेश किया है, जैसे अपने सन्तानों को पिता उपदेश करता है, वैसे ही परम कृपालु पिता जो परमेश्वर है

उसने हम सब जीवों के हित के लिये सुगमता से वेदों का उपदेश किया है जिससे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और सब पदार्थों का विज्ञान और उनसे यथावत् उपकार लेवें, इसलिये अत्यन्त हित से हम लोगों को उपदेश किया है, सो हम लोग भी अत्यन्त प्रेम से इसको स्वीकार करें। अब जैसा उपदेश परमात्मा को करना है सो सब जीवों की ओर से परमेश्वर करता है; कि जीव लोग जब इस वेद को पढ़ें, पढ़ावें, पाठ करें और विचारेंगे तब यथावत् कर्त्ता क्रिया और कर्म का सम्बन्ध हो जायगा। जो सबका जाननेवाला, शुद्ध, सब विकारों से रहित, सनातन, जो सब काल में एकरस बना रहता है, जो अज है, जिसका कभी जन्म नहीं होता, जो अनादि है, जिसका आदिकारण कोई नहीं, जो अनन्त है, जिसका अन्त कोई नहीं ले सक्ता, जगत् में जो परिपूर्ण हो रहा है, सब जगत् का आदिकारण और जो स्वप्रकाशस्वरूप है, ऐसा जो परमेश्वर जिसका नाम अग्नि है, उसकी मैं स्तुति करता हूँ। इससे भिन्न कोई दूसरा ईश्वर नहीं है, और उसको छोड़ के दूसरे का लेशमात्र भी आश्रय मैं कभी नहीं करता, किस प्रयोजन के लिये ? धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनकी सिद्धि के लिये। अञ्चु गतिपूजनयोः इत्यादि धातुओं से अग्नि शब्द सिद्ध होता है, अञ्चतीत्यादि० जो सब को जानता है, जो सब वेदादिक शास्त्रों से जाना जाता है, जो सब में गत नाम प्राप्त हो रहा है, जो सर्वत्र प्राप्त होता है, जो सब धर्मात्माओं का सत्कार करता है, जिसका सत्कार सब विद्वान् लोग करते हैं, जो सब सुख को प्राप्त करता है और जो सब सुखों के अर्थ प्राप्त किया जाता है, इस प्रकार व्याकरण निरुक्त आदि के प्रमाणों से अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण में कोई भी विवाद नहीं है॥ पूर्वोक्त अग्नि कैसा है कि (पुरोहितः) सब देहधारियों की उत्पत्ति से प्रथम ही सब जगत् और स्वभक्त धर्मात्माओं के लिये सब पदार्थों की उत्पत्ति जिसने की है, और विज्ञानादि दान से जो जीवादि सब संसार का धारण और पोषण करता है, इससे परमात्मा का नाम पुरोहित है। पुरःपूर्वक क्त प्रत्ययान्त डुधाञ् धातु से पुरोहित शब्द सिद्ध हुआ है। इसी से सबका धारण और पोषण करनेवाला एक परमात्मा ही है। अन्य कोई भी नहीं। इस पुरोहित शब्द में पुर एनं० इत्यादि निरुक्त का भी प्रमाण है॥ (यज्ञस्य देवम्) यज धातु से यज्ञ शब्द सिद्ध होता है। इसका यह अर्थ है कि अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त विविध क्रियाओं से जो सिद्ध होता है, जो वायु और वृष्टि जल की शुद्धि द्वारा सब जगत् को सुख देनेवाला है उसका नाम यज्ञ है, अथवा परमेश्वर के सामर्थ्य से सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण, इन तीनों गुणों की जो एक अवस्थारूप कार्य उत्पन्न हुआ है जिसका प्रकृति अव्यक्त और अव्याकृतादि नामों से वेदादि शास्त्रों में कथन किया है, उससे लेके पृथिवी पर्यन्त कार्यकारण संगति से उत्पन्न हुआ जो जगत् रूप यज्ञ है, अथवा सत्यशास्त्र सत्यधर्माचरण सत्पुरुषों के संग से जो उत्पन्न होता है, जिसका नाम विद्या, ज्ञान और योग है, उसका भी नाम यज्ञ है, इन तीनों प्रकार के यज्ञों का जो देव है, जो सब सुखों का देनेवाला, जो सब जगत् का प्रकाश करनेवाला, जो सब भक्तों को आनन्द करानेवाला, जो अधर्म अन्यायकारी शत्रुओं का और काम क्रोधादि शत्रुओं का विजिगीषक नाम जीतने की इच्छा पूर्ण करनेवाला है, इससे ईश्वर का नाम देव है॥ (ऋत्विजम्) जो सब ऋतुओं में पूजने योग्य है, जो सब जगत् का रचने वाला और ज्ञानादि यज्ञ की सिद्धि का करनेवाला है, इससे ईश्वर का नाम ऋत्विज् है। ऋतु शब्दपूर्वक किन् प्रत्ययान्त यज धातु से ऋत्विज् शब्द सिद्ध होता है॥ (होतारम्) जो सब जगत् के जीवों को सब पदार्थों को देनेवाला है। जो मोक्ष समय में मोक्ष को प्राप्त हुए जीवों का ग्रहण करनेवाला है तथा जो वर्त्तमान और प्रलय में सब जगत् का ग्रहण और धारण करनेवाला है, इससे परमात्मा का होता नाम है। हु दानादनयोः। आदाने चेत्येके। इस धातु से तृच् प्रत्यय करने से होता शब्द सिद्ध हुआ है॥ (रत्नधातमम्) जिनमें रमण करना योग्य है, जो प्रकृत्यादि पृथिवीपर्यन्त रत्न यथा विज्ञान हीरादि जो रत्न और सुवर्णादि जो रत्न हैं, जिनके यथावत् उपयोग करने से आनन्द होता है, उन रत्नों का सब जीवों को दान के लिये जो धारण करता है, वह रत्नधा कहाता है, और जो अतिशय से

पूर्वोक्त रत्नों का धारण करनेवाला है, इससे परमेश्वर का नाम रत्नधातम है। रत्न शब्दपूर्वक क्विप् प्रत्ययान्त डुधाञ् धातु से तमप् प्रत्यय करने से यह शब्द सिद्ध हुआ है। इस मन्त्र को निरुक्तकार यास्कमुनि ने जिस प्रकार की व्याख्या की है सो संस्कृत में लिखी है, उसको वहीं देख लेना ॥

॥ अथ द्वितीयोर्थः ॥

(अग्निमीळे) अत्राग्निशब्देन भौतिकोऽग्निर्गृह्यते। रूपगुणं दाहकमूर्ध्वगामिनं भास्वरमग्निमहमीळे, तस्य गुणानामन्वेषणं कुर्वे। कीदृशगुणोऽग्निरस्तीत्याह—कलाकौशलयानचालनादिपदार्थविद्याया अग्निरेव मुख्यं कारणमस्ति। विनाग्निनेदृगुत्तमक्रिया नैव सिध्यति। अत एव सर्वैर्विद्वद्भिः शिल्पिभिरग्नेः स्वभावगुणा यथावदध्यन्वेषणीयाः॥ पुरा ह्यार्यैर्याश्वविद्या शीघ्रगमनहेतुः सम्यक् संपादितेति श्रूयते साग्निविद्यैवासीत्॥ अत्र प्रमाणानि—

ततो देवा एतं वज्रं ददृशुः। यदश्वं तं पुरस्तादुदश्रयँस्तस्याभयेनाष्ट्रेनिवातेऽग्निरजायत तस्माद्यत्राग्निं मन्थिष्यन्त्स्यात्तदश्वमानेतवै ब्रूयात्स पूर्वेणोपतिष्ठते वज्रमेवैतदुच्छ्रयति तस्याभयेनाष्ट्रेनिवातेऽग्निर्जायत, इति॥ श० कां० २। अ० १॥[1] वृषो अग्निरिति॥ श० कां० १। अ० ४॥[2] अग्निर्वा अश्वः॥ श० कां० ३। अ० ६॥[3] अश्वो ह वा एष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति॥ श० कां० १। अ० ४॥[4] तूर्णिर्हव्यवाडिति॥ श० कां १। अ० ४॥[5] अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्येति॥ श० कां १। अ० ६॥[6]

इत्याद्यनेकप्रमाणैरश्वनाम्ना भौतिकोऽग्निरेवात्र गृह्यते। आशुगमनहेतुत्वादश्वोऽग्निर्विज्ञेयः। अयमेवाग्निर्वज्रः सर्वपदार्थोच्छेदकत्वात् स्वयमच्छेद्यत्वाच्चाश्ववद्विमानादियानानां शीघ्रं गमयितेति विज्ञायते। वृषवद्यानानां वोढाग्निरिति च, तथाश्ववदपि। एषोऽग्निरश्वो भूत्वा देवेभ्यो विद्वद्भ्यः शिल्पविद्याविद्भ्यो मनुष्येभ्यः शिल्पविद्यासंगतं विमानादियानाख्यं यज्ञमेषोऽग्निरेव वहति प्रापयतीति शेषः। अत एव तूर्णिः शीघ्रगमनहेतुः, हव्यवाड् दातुं ग्रहीतुं योग्यं शिल्पविद्यामयं यज्ञं वहति प्रापयतीत्यर्थः। इत्थं शिल्पविद्यासमूहभूतस्य यज्ञस्याग्निरेव योनिः कारणं बीजं निदानमिति शेषः॥

(पुरोहितम्) अत एव सोऽग्निः पुरोहितः पुरस्तात् विमानकलाकौशलक्रियाप्रचालनादिगुणमेनं शिल्पविद्यामयं दधातीति पुरोहितः॥ (यज्ञस्य देवम्) विविधक्रियाजातस्य शिल्पविद्यादिक्रियाजन्यबोधसंगतस्य, देवः व्यावहारिकविद्याप्रकाशकस्तम्॥ (ऋत्विजम्) सर्वशिल्पादिव्यवहारविद्याद्योतनमर्हम्॥ (होतारम्) तद्विद्यादिगुणानां दातारमादातारं च॥ अत एव (रत्नधातमम्) तद्विद्यानिष्ठानां शिल्पिनां रत्नैरतिशयेन पोषकम्। तद्विद्याऽऽधारकं वा॥

अस्यान्वयस्तु पूर्ववद्वेदितव्यः।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायतेति॥ शुक्ल[7] य० अ० ३१। मं० १२॥ तथा तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निरिति० तैत्तिरीयोपनिषदि अनुवाक १॥

इत्यादिभिः प्रमाणैर्भौतिकोऽग्निरेवात्र ग्राह्यः। कुतः? उत्पत्तिस्थितिप्रलयवतां पदार्थानां संसारान्तर्गत-

---

१. शत० २। १। ४। १६। २. शत० १। ४। १। २९। ३. शत० ३। ६। २। ५।
४. शत० १। ४। १। ३०। ५. शत० १। ४। २। १२।
६. शत० १। ५। २। १६। मूलपाठः 'अ० ६' इत्यपपाठः।

७. ऋषिदयानन्द ने 'शुक्ल यजुर्वेद' शब्द का व्यवहार ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका (रा. ला. क. ट्र. सं.) पृष्ठ १७३, ३३४ तथा भ्रमोच्छेदन (शताब्दी सं० पृष्ठ ८९८) में भी किया है।

भावात् । परमेश्वरस्त्वेतेभ्यो विलक्षण एवातः । भौतिकाग्न्यादीनि जन्मादिधर्मवन्ति सन्ति कार्यत्वात् । परमेश्वरस्य जन्मादयो धर्मा न विद्यन्ते सर्वस्यादिकारणत्वात् । इति द्वितीयोर्थः ॥

पूर्वेषां भाष्यकर्तां सायणाचार्यादीनां ये गुणाः सन्ति ते त्वस्माभिरपि स्वीक्रियन्ते । गुणानां सर्वैः शिष्टैः स्वीकार्यत्वात् । तेषां ये दोषाः सन्ति तेऽत्र दिग्दर्शनेन खण्ड्यन्ते । रावणोवटसायणमाधवमहीधराणां दोषवद्भाष्यखण्डनविषये यत्र यत्र समानं भाष्यं तत्र तत्रैकस्य खण्डनेनेतरेषामपि भाष्यस्य खण्डनं वेद्यम् । यत्र यत्र च विशेषस्तत्र तत्र पृथक् पृथक् खण्डनं विधास्यामि । तेनैवार्येङ्ग्लैण्डभाषादिनिर्मितस्य व्याख्यानस्यापि खण्डनं बोध्यम् ।

सायणाचार्यादिभिरग्निशब्देनात्र भौतिकोऽग्निर्गृहीतः । तद्यथा—तथाग्निरपि यज्ञस्यापेक्षितं होमं संपादयति । यद्वा यज्ञस्य संबन्धिनि पूर्वभाग आहवनीयरूपेणावस्थितम् । यद्यपीन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैवेन्द्रादिरूपेणावस्थनादविरोधः इत्युक्तत्वात् ।

इदमसमञ्जसं मुख्येश्वरार्थस्य त्यागात् । इन्द्रादिरूपधारणमपीश्वरो नैव करोति । स पर्यगाच्छुक्रमकायम्[2], अज एकपात्[3] इति मन्त्रार्थविरोधात् । इन्द्रं मित्रमित्यादिप्रमाणैः सिद्धस्य परमेश्वरार्थस्य त्यागः शिष्टसंमतो नास्ति ।[5] भौतिकाग्न्यर्थस्य विषयस्याप्यल्पोक्तत्वात्[6] । तस्मादयमर्थोऽपि निर्दोषो नास्ति । इन्द्रादीनि परमेश्वरस्य सूर्यादीनां च नामानि सन्ति । तान्यैतरेयशतपथादिब्राह्मणनिरुक्तव्याकरणादिषु व्याख्यातानि । तथा वेदेष्वपि तेषां मध्यादस्मिन् मन्त्रभाष्येऽपि कानिचिदिन्द्रादीनि नामानि प्रकाशितानि ।[7] अग्रे यत्र यत्र यस्य यस्य मन्त्रार्थस्य विषय आगमिष्यति तत्र तत्र खण्डनं मयोदाहरिष्यते । सायणाचार्येण तथा प्रतिपादनं नैव कृतमतस्तद्भाष्यं दोषवदस्तीति बोध्यम् । एतत्खण्डनाभ्यन्तरे डाक्तरविलसनाख्यवेदार्थयत्नादीनामपि खण्डनमागतमिति विज्ञेयम् । कश्चिद् ब्रूयात्, सायणाचार्यादिभिर्निरुक्तादिप्रामाण्ययुक्तं भाष्यं विहितम् । कथं दोषवदिति ? अत्रोच्यते । निरुक्तादिवचनानि तु लिखितानि । परन्तु तानि तद्वचनाद्विरुध्यन्त एव । तद्यथा—अग्निः कस्मादग्रणीर्भवतीत्यादि[8] । अग्रणीः सर्वोत्तमः । अग्रं सर्वोत्तमं नयतीत्यनेन परमेश्वरस्यैव ग्रहणं भवितुमर्हति नान्यस्य । कुतः ? गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः[9] इति व्याकरणन्यायेन परमेश्वरादग्रणीर्मुख्यः कश्चिदपि नास्तीत्यतो विरोध एव तद्भाष्येऽस्ति । अन्येऽपि बहवो दोषास्तत्र सन्ति ग्रन्थभूयस्त्वभयान्नोलिख्यन्ते । एतावतैवेदृशानि पूर्वजकृतानि भाष्याण्यासन् । यानि भवन्ति भविष्यन्ति च तेषां खण्डनं तावतैव बोध्यम् । अग्रेऽग्रे यद्यदत्यन्तविरुद्धं भाष्यमस्ति तत्तदेव खण्डयिष्यामि नान्यदिति च ॥ १ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(अग्निमीळे) अब दूसरा अर्थ व्यवहारविद्या के अभिप्राय से प्रमाण के सहित किया जाता है। इस अर्थ में अग्नि शब्द से भौतिक अग्नि जो यह जलाने और ऊपर चलनेवाला है तथा सब पदार्थों का अलग-अलग करने और बल देनेवाला तथा जिसका रूप गुण है और मूर्तिमान् द्रव्यों का जो प्रकाशक है, [तथा जो] ज्वालारूप [है] उसका ग्रहण किया जाता है। मैं उस अग्नि की स्तुति करता हूँ, उसके गुणों का अन्वेषण अर्थात् खोज करता हूँ। अग्नि में कौन-कौन गुण हैं और किस विद्या की सिद्धि होती है ? जो-जो कलाकौशल सवारी चालनादि पदार्थविद्याओं की सिद्धि करने के उत्तम गुण हैं

१. इदं वाक्यमृग्वेदस्योपोद्घातस्यादौ 'तस्माद्यज्ञात्' मन्त्रव्याख्याने वर्तते । शिष्टं वचनं प्रकृतमन्त्रव्याख्यान एव ।

२. यजुः० ४० । ८ ।   ३. ऋ० ७ । ३५ । १३ ।   ४. ऋ० १ । १६४ । ४६ ।

५. प्रकरणमिदं (सायणभाष्यदोषप्रदर्शनपरं) ग्रन्थ-कृता स्वीयर्ग्वेदभाष्यभूमिकायां भाष्यकरणशंकासमाधानादिविषयस्यादौ (पृष्ठ ३६४, ३६५) विस्तरेण निरूपितम् ।

६. भौतिकार्थसामान्ये ग्रहीतव्ये सायणेन केवलं यज्ञविषयक एवाग्निर्गृहीत इति तस्याल्पता ।

७. एतन्मन्त्रस्य प्रथमार्थस्यादौ ।   ८. निरु० ७ । १४ ।   ९. सीरदेवीय पारिभाषावृत्ति १०३ ।

सो-सो अग्नि से ही प्राप्त होते हैं, इससे अग्नि ही शिल्पविद्या का मुख्य कारण है। क्योंकि बिना अग्नि से कोई भी उत्तम गुणवाली पदार्थविद्या सिद्ध नहीं हो सक्ती, इसी से जो विद्वान् लोग पदार्थविद्या में हो गये, होते हैं, और होंगे, उन सबों ने पदार्थविद्या में अग्नि को ही मुख्य साधन माना है, मानते हैं और मानेंगे। इस समय में भी जो पदार्थविद्याओं को किया चाहे सो भी अग्नि के गुणों का खोज करे। पहिले आर्य्यों ने अश्वविद्या नाम से जो विमानादि शिल्पविद्या सिद्ध की थी वह अग्निविद्या ही थी। अश्वविद्या जो अग्न्यादि पदार्थों से रसायनविद्या होती है सो शिल्पविद्या ही है। इसमें अनेक प्रमाण हैं। "ततो देवा एतं वज्रं ददृशुः यदश्वमित्यादि" शतपथादि ग्रन्थों का यथालिखित प्रमाण देख लेना। उनमें अश्व जो अग्नि है उसी का ग्रहण किया है। इस प्रकार के अनेक प्रमाणों से अश्वादिक नामों से इस भौतिक अग्नि का ही ग्रहण किया जाता है। आशु नाम शीघ्र चलाने का जो हेतु है इससे अग्नि को ही अश्व जानना। शिल्पविद्यारूप यज्ञ का अग्नि ही देव है। इसी अग्नि का वज्र नाम है क्योंकि सब पदार्थों का अलग-अलग करने और प्रकाशनेवाला अग्नि ही है और वह किसी से छेदन में नहीं आता, इससे अग्नि का नाम वज्र है। वृषः वृषवत् बैल की नाईं सवारियों को चलानेवाला अग्नि ही है। तथा घोड़े की नाईं भी सवारियों को दौड़ानेवाला अग्नि ही है। तथा तूर्णिः अग्नि को ही अत्यन्त वेगवाला सवारियों के चलाने में जानना। तथा हव्यवाट् शिल्पविद्यारूप यज्ञ की प्राप्ति करानेवाला भी अग्नि ही है॥ (पुरोहितम्) इसीसे इस अग्नि को पुरोहित जानना। विमान, कला, कौशल, क्रिया चालनादि गुणों का धारण करनेवाला है। और सब विद्याओं का प्रथम हेतु होने से अग्नि का नाम पुरोहित है॥ (यज्ञस्य देवम्) यज्ञ का देव अर्थात् विविध क्रियाओं से जो शिल्पविद्या बनती है। उस विद्या का जो प्रकाश करनेवाला है सो देव है॥ (ऋत्विजम्) जो शिल्पादि सब व्यवहारों की सिद्धि करनेवाला है॥ (होतारम्) जो उस विद्या के दिव्य गुणों को देने और धारण करनेवाला है॥ (रत्नधातमम्) जो उस शिल्पविद्या के जाननेवाले मनुष्यों को रत्नों से अत्यन्त सुख देनेवाला है। उसी को हम लोग शिल्पविद्या की सिद्धि के लिये ग्रहण करें॥ चन्द्रमा मन से उत्पन्न हुआ है, इत्यादि। शुक्ल[1] यजुर्वेद तथा तैत्तिरीयोपनिषदादि प्रमाणों से व्यवहारविद्या में भौतिक अग्नि का ही ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि जिन पदार्थों की उत्पत्ति और वर्त्तमान हो के पुनः प्रलय हो उन सब पदार्थों को संसार में ही जानना चाहिए, इससे भौतिक अग्नि को ही इस अर्थ में जानना। परमेश्वर तो इन जन्मादि धर्मवाले पदार्थों से सदा अलग ही है और सबका आदिकारण है॥

पूर्व जो सायणाचार्य आदि वेदभाष्य के करनेवाले हैं, और जो उनके भाष्य में दोष हैं, उनका खण्डन संक्षेप से दिखाया जाता है। जो रावण उवट सायण और महीधर वेदों के व्याख्या करनेवाले हैं इनमें से एक के खण्डन से इस प्रकार के अन्य का भी खण्डन सर्वत्र जान लेना। और जहाँ-जहाँ उनमें बड़ा दोष है उस-उस का अलग-अलग खण्डन किया जायगा। वैसे ही आर्यभाषा दक्षिणभाषा[2] किंवा अन्यभाषा तथा अंगरेजी भाषा में किये व्याख्यान का भी खण्डन जानना। उनका दोष संक्षेप से लिखते हैं।

इस मन्त्र के अर्थ में सायणाचार्य आदि ने भौतिक अग्नि का ही ग्रहण किया है, जिसमें होम करते हैं, इस अर्थ से भिन्न अर्थ का ग्रहण नहीं किया है। इसका खण्डन संस्कृत में लिखा है वहाँ समझ लेना। अन्यथा भाष्य बनानेवाले जितने पहिले हो गये, इस समय जितने हैं वा आगे जितने होंगे, इन सबका भाष्य खण्डन के योग्य अवश्य है, क्योंकि मनुष्यों की बुद्धि विद्या विचार बल और पराक्रमादि

१. द्रष्टव्य पृष्ठ ९ की टि० ७।

२. ऋषि दयानन्द के समय में महाराष्ट्र से 'वेदार्थयत्न' के नाम से ऋग्वेद का एक वेदभाष्य अङ्कों के रूप में छपता था। उसमें संस्कृत, मराठी और अंग्रेजी भाषा में भाष्य छपता था।

अधिक न्यून होते ही रहते हैं। इससे बिना विचार किये ग्रन्थ का प्रमाण सर्वदा नहीं रहता इसमें कुछ आश्चर्य नहीं ॥ १ ॥

अथ द्वितीयामृचमाह—

मू०—अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत । स देवाँ एह वक्षति ॥ २ ॥

प०—अग्निः । पूर्वेभिः । ऋषिऽभिः । ईड्यः । नूतनैः । उत । सः । देवान् । आ । इह । वक्षति ॥ २ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(अग्निः) अयमग्निः परमेश्वरः। (पूर्वेभिः) पूर्वैस्तथा। (नूतनैरुत) नवीनैरपि। (ऋषिभिरीड्यः) मन्त्रद्रष्टृभिर्ऋषिभिस्तर्कैः प्राणैश्च सदैवेड्यः स्तुत्यो वन्द्योन्वेषणीयः पूज्यश्चास्ति। स जगदीश्वरः स्वकृपाकटाक्षेण। (देवान्) देवान् दिव्यानीन्द्रियाणि विद्यादिदिव्यगुणान् दिव्यर्त्तून् दिव्यभोगाँश्च। (एह वक्षति) इहास्मिन् संसारे जन्मन्यात्मनि च। आवक्षति आवहतु। आसमन्तात् प्रापयतु न इति शेषः॥ अत्र प्रमाणानि—

प्राणा वा ऋषयो दैव्यासः॥ ऐत० पं० २। अ० ४॥[1] प्राणा ऋषयः। ऋतवो वै देवाः॥ श० का० ७। अ० २॥[2]

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्षति॥ १॥ अग्निर्यः पूर्वैर्ऋषिभिरीडितव्यो वन्दितव्योऽस्माभिश्च नवतरैः स देवानिहावहत्विति। स न मन्येतायमेवाऽग्निरित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते॥ नि० अ० ७। खं० १६॥

पुरस्तान्मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्को न ऋषिर्भविष्यतीति तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम् इति॥ नि० अ० १३। खं० १२॥

अयमर्थः—पूर्वेभिर्जगत्कारणस्थैर्नूतनैः कार्यशरीरस्थैर्ऋषिभिः प्राणैः सह मनुष्यैरीड्य इत्यर्थः। (अग्निर्यं०) योऽग्निः परमेश्वरो भौतिको वास्ति सोत्र ग्राह्यः। कुतः। 'स न मन्येतायमेवाग्निरित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते' इत्युक्तत्वात्। परमेश्वरो विद्युदादिदिव्यश्चैतावग्नी उत्तरे ज्योतिषी अत्र ग्रहीतुं योग्ये स्तः। एवमेव तर्कैर्वेदशास्त्रादिस्थैः पूर्वेभिरस्मदादिभिरिदानीन्तनैर्नवतरैश्चैवेश्वरः स्तुत्या वन्दनेन वेद्योस्ति नान्यथा। अविज्ञाततत्त्वेर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्क[3] इति गोतमाचार्येण न्यायशास्त्रे प्रतिपादितत्वात्, मनुष्याणां तर्कैर्विना यथार्थज्ञानं नैव कदाचिद्भवत्यत उक्तमृषिभिस्तर्कैरिति॥ तथेश्वरस्य त्रिकालज्ञत्वात्। नवीनापेक्षया प्राचीनैः प्राचीनापेक्षया नवीनैश्च विद्वद्भिरीड्य इत्युक्ते सति न दोषो भवति, वेदस्य सर्वज्ञवाक्यत्वात् प्रथममन्त्रभाष्ये निरुक्तव्याकरणादिरीत्या देवशब्दार्थ उक्तः सोऽत्र द्रष्टव्यः।

एतन्मन्त्रार्थः सायणाचार्यादिभिरन्यथोक्तः तद्यथा—पुरातनैर्भृग्वङ्गिरःप्रभृतिभिः। नूतनैरुतेदानींतनैरस्माभिरपि स्तुत्यः॥ देवान् हविर्भुज आवक्षतीति अन्यथेदं व्याख्यानमस्ति, तद्वद्यूरोपखण्डस्थैरत्रस्थैश्च कृतमिङ्गलैण्डभाषायां वेदार्थयत्नादिषु च व्याख्यानमप्यसमञ्जसम्। कुतः। ईश्वरोक्तस्यानादिभूतस्य वेदस्येदृशं व्याख्यानं क्षुद्राशयं गम्यते, तथा निरुक्तशतपथादिग्रन्थाशयविरुद्धं चातः॥ २॥

॥ भाषार्थ ॥

(अग्निः) अग्नि जो परमेश्वर (पूर्वेभिर्ऋ०) प्राचीन और नवीन ऋषि जो प्राण, मन्त्रार्थ जानने वाले जो विद्वान् और तर्क हैं। अर्थात् स्थूल जगत का कारण जो ईश्वर की सामर्थ्य प्रकृति और परमाणु रूप है,

१. ऐत० २। ४। ३॥　२. प्राणा ऋषयः। शत० ७।२।३।५॥ ऋतवो वै देवाः। शत० ७।२।४।२६॥
३. न्याय० १। १। ४०॥

इनमें जो सूक्ष्म प्राण हैं उनका नाम प्राचीन है और जो प्राण सदैव निर्विकार बने रहते हैं, जो ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले हैं उनका 'पूर्वेभिः इस पद से ग्रहण होता है। और कार्य जो स्थूल जगत् तथा शरीर में जो प्राण हैं तथा पहिले और वर्त्तमान में जो विद्वान् हैं उन पूर्व हो गये विद्वानों के जो तर्क थे और आत्मा में जो तर्क हैं उनको भी 'पूर्वेभिः' तथा 'नूतनैः' इन पदों से ग्रहण करते हैं। क्योंकि ये सब शरीर के साथ ही उत्पत्ति वृद्धि और क्षय को प्राप्त होते हैं। इन दोनों प्राणों के साथ अभ्यास करने से इनके बीच ही परमेश्वर प्राप्त होता है। तथा मन्त्रार्थ जानने वाले प्राचीन और नवीन ऋषियों को भी स्तुति करने के योग्य परमेश्वर ही है। सो जगदीश्वर अपनी कृपाकटाक्ष से शुद्ध सद्विद्यादि गुण, श्रेष्ठ इन्द्रिय, उत्तम ऋतु और सब प्रकार के जो उत्तम भोग हैं कि जिन गुणों से परमानन्द मोक्ष प्राप्त होता है। जिन इन्द्रियों से धर्माचरण विद्या और उत्तम सुख होता है। दिव्यऋतु = जिनमें परमार्थ और व्यवहार के दोनां सुख बढ़ें। दिव्यभोग = जो मोक्ष और व्यवहार में भी होते हैं। (स देवानेह वक्षति) इस संसार, इस जन्म और हमारे आत्मा में, हे परमेश्वर! कृपा से आप हम लोगों को सब प्रकार से उन सुखों को प्राप्त करो। प्राण, तर्क और मन्त्रार्थ के जानने वाले विद्वानों को ऋषि कहते हैं। सद्विद्यादि जो दिव्यगुण और ऋतु आदि को देव कहते हैं। इसमें शतपथादि ग्रन्थों का लेख संस्कृत में लिखा है सो देख लेना॥

इस मन्त्र का सायणाचार्य आदि लोगों ने अन्यथा अर्थ वर्णन किया है, इसका खण्डन भी संस्कृत में देख लेना। तद्वत् डाक्टर विलसन साहेब कृत और वेदार्थयत्न में भी इस मन्त्र का अर्थ ठीक नहीं किया है। वेदार्थयत्नवाले ने जो यह बात लिखी है कि यह मन्त्र लक्ष्य में रखने के योग्य है। अर्थात् वेद ईश्वर-कृत सनातन नहीं है। उनका ऐसा अभिप्राय देखने में आता है। सो उनकी बुद्धि के अनुसार ही है यह प्रमाणयुक्त नहीं है॥ २॥

॥ अथ द्वितीयोर्थः ॥

प्राक्तनैर्नवीनैः प्राणैः शिल्पविद्याविद्भिस्तर्कैः पूर्वोक्तैर्ऋषिभिरयमेवाग्निरन्वेष्टव्यगुणोऽस्ति । कुतः । सोऽयमग्निरिह पदार्थविद्यायां कलाकौशलस्य विमानादीनां यानानां दिव्यगुणानावक्षति। आवहत्वित्या-काङ्क्ष्येत चेति॥ २॥

॥ भाषार्थ॥

(अग्निः) शिल्पविद्या के जानने तथा शिल्पविद्या को सिद्ध करने की इच्छा रखनेवाले, उसको पढ़ाने और पढ़नेवाले जो ऋषि अर्थात् कारीगर लोग हैं वे अग्नि के गुणों के सुतर्कपूर्वक खोज से पदार्थविद्या को सिद्ध करते हैं और करैं। क्योंकि पदार्थविद्या में कलाकौशल विमान आदि सवारियों के परमोत्तम गुणों की प्राप्ति अग्नि से ही होती है। इससे अग्नि के गुणों के खोजने में सब लोग सदा प्रयत्न करैं॥ २॥

अथ तृतीयमन्त्रमाह—

मू०—अ॒ग्निना॑ र॒यिम॑श्नव॒त्पोष॑मे॒व दि॒वेदि॑वे । य॒शसं॑ वी॒रव॑त्तमम् ॥ ३ ॥

प०—अ॒ग्निना॑ । र॒यिम् । अ॒श्न॒व॒त् । पोष॑म् । ए॒व । दि॒वेऽदि॑वे ॥ य॒शस॑म् । वी॒रव॑त्ऽतमम् ॥३॥

॥ भाष्यम् ॥

(अग्निना) विज्ञानानन्दस्वरूपेण दयालुना सद्धर्मानुष्ठानयोगाभ्यासपरमप्रीत्युपासनोपासितेनैवाग्नि-नेश्वरेण, विद्याधर्मयुक्तः सन् जीवः (रयिम्) धर्ममोक्षविद्याचक्रवर्त्तिराज्यारोग्यादिस्वरूपं धनम्। (अश्नवत्) प्राप्नुयात् प्राप्नोति वा नान्यथेति निश्चयः। कथंभूतं तद्धनम्? आत्ममनः शरीरेन्द्रियाणाम्। (दिवेदिवे)

प्रतिदिनं नित्यम्। (पोषमेव) पुष्टिकरमेव भवति, तथा (यशसम्) यशः सत्कीर्त्तिवर्धकं शिष्टाचारादि-कीर्त्तिमच्च। तथा (वीरवत्तमम्) प्रतिदिनं बुद्धिबलवीर्यशौर्य्यधैर्य्यादिगुणयुक्ताः पुत्रबन्धुमित्रभृत्यादयो वीरा भवन्ति यस्मिन् धने तद्वीरवत्, अतिशयेन वीरवत् इति वीरवत्तमम्॥ अयमाशयः—परमेश्वरोपासनेन विना स्थिरं नित्यं च सुखं कदाचित् कस्यापि नैव भवतीति॥ रयिमिति धननामास्ति निघण्टौ[1]॥

सायणाचार्येण यज्ञहोमसम्बन्धमात्रेणैवेयमृग्व्याख्याता। अत्रेश्वरान्यपदार्थविद्यात्यागात् तद्व्याख्यानं सम्यङ् नास्तीति विज्ञेयम्। तथा वेदार्थयत्नकर्तृडाक्तरविलसनाख्यकृतमपि[2] च तादृशमेवास्ति। अस्य स्वल्प-विषयत्वात्, मुख्यार्थस्येश्वरस्य त्यागादस्पष्टार्थत्वाच्च विदुषामाह्लादकरमीदृशं व्याख्यानं नैव भवतीति दिक्॥ ३॥

॥ भाषार्थ ॥

(अग्निना) अग्नि जो विज्ञान और आनन्दस्वरूप है और दया करनेवाला है, सत्य धर्म का आचरण, योगाभ्यास जो समाधि का करना तथा परमेश्वर में अत्यन्त प्रीति और विज्ञान से जो दृढ़ विश्वास का यथावत् होना, इस प्रकार की उपासना से जो प्रसन्न होता है, उस अग्नि ईश्वर की कृपादृष्टि से सत्यविद्या और सत्यधर्माचरण से युक्त जो जीव, सो (रयिम्) जो धर्म मोक्षविद्या और चक्रवर्त्ति राज्यादि का होना इस धन को (अश्नवत्) प्राप्त होता है। इससे दूसरे प्रकार से नहीं। वह धन कैसा है? (पोषमेव दिवेदिवे) आत्मा मन शरीर और इन्द्रिय इन को नित्य पुष्टि और आनन्द करानेवाला है, तथा (यशसम्) अर्थात् दिन-दिन के प्रति सत्कीर्त्ति को बढ़ाने वाला, और जिस धन से शिष्टाचार और सब मनुष्यों का उपकार हो। तथा (वीरवत्तमम्) बुद्धि, बल, शरीर, पराक्रम, शूरता, धीरज आदि गुणवाले जो हैं वे पुत्र भाई मित्र और भृत्यादि वीरपुरुष प्राप्त हों जिस धन से उस धन को वीरवत् कहते हैं। और जो पूर्वोक्त गुणों से अत्यन्त युक्त हो उस धन को वीरवत्तम कहते हैं। इसका यह अभिप्राय है कि विना परमेश्वर की उपासना से संसार में स्थिर जो सुख और मोक्ष में जो नित्य सुख उसको कोई भी प्राप्त नहीं हो सकता॥

सायणाचार्य ने अग्निमीडे आदि मन्त्रों का अग्न में आहुति डालना.मात्र प्रयोजन लिखा है। इस अर्थ में ईश्वर और होम से भिन्न अन्य पदार्थविद्या के त्याग से वह व्याख्यान अच्छा नहीं है। तथा वेदार्थयत्न में और डाक्तर विलसन साहेब का किया व्याख्यान भी वैसा ही है। तथा सायणाचार्य के व्याख्यान से इन का व्याख्यान बहुत अल्पार्थ है। क्योंकि ये सब व्याख्यान मुख्य अर्थ, जो ईश्वर उन के त्याग और निश्चिताथ नहीं होने से विद्वानों को प्रिय और साधारण को भी यथावत् उपकारक नहीं हो सकता॥ ३॥

॥ अथ द्वितीयोर्थः ॥

भौतिकाग्निनिमित्तेन शिल्पविद्याचिकीर्षुः पुरुषः सुवर्णरत्नादि राज्यादि च पूर्वोक्तविशेषणयुक्तं रयिं धनमश्नवत् प्राप्नोतु प्राप्तमिच्छेत्। शिल्पविद्यायामग्नेरेव मुख्यसाधनत्वात्॥ ३॥

॥ भाषार्थ ॥

प्रत्यक्ष जो यह अग्नि इस के विना उत्तम कारीगरी सिद्ध नहीं हो सकी। कारीगरी के विना धन और राज्य के जो उत्तम व्यवहार तथा पदार्थ हैं वे सब मनुष्यों को यथावत् प्राप्त नहीं हो सक्ते, क्योंकि उत्तम कारीगरी के होने में अग्नि ही मुख्य साधन है। इस अग्नि से बिजुली आदि पदार्थों को सिद्ध

१. निघण्टु २।१०॥

२. वेदार्थयत्नकर्ता च डाक्तरविलसनाख्यश्च, वेदार्थयत्नकर्तृडाक्तरविलसनाख्यौ, ताभ्यां कृतम्।

करके अनेक विमानादि विद्या रच लेना चाहिए। इससे पृथिवी जल और आकाशमार्ग में चलने के लिये विमान आदि विद्या रचनी सब मनुष्यों को उचित है ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थो मन्त्रः

सू०—अग्ने॒ यं य॒ज्ञम॑ध्व॒रं वि॒श्वतः॑ परि॒भूरसि॑ । स इद्दे॒वेषु॑ गच्छति ॥ ४ ॥

प०—अग्ने॑ । यम् । य॒ज्ञम् । अ॒ध्व॒रम् । वि॒श्वतः॑ । प॒रि॒ऽभूः । असि॑ ॥ सः । इत् । दे॒वेषु॑ । ग॒च्छ॒ति॒ ॥ ४ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(अग्ने) हे अनन्तशक्ते परमात्मन्नग्ने ! त्वं (विश्वतः) सर्वतः। (परिभूरसि) व्याप्तः सन्। (यं) यज्ञम्। (अध्वरम्) अहिंसनीयमर्थात् सर्वथा रक्षयितव्यम् जगद्रूपम्। (यज्ञम्) किं वा अग्निहोत्राद्यश्वमेधपर्यन्तं यज्ञं तथा भवत्स्तुतिप्रार्थनोपासनाख्यं च त्वमेव पालितवानसि, स एव यज्ञः परिपूर्णः सन्निष्टफलप्रापको भवति। अस्य यज्ञस्यानुष्ठातुर्जनस्य भवानेव रक्षकोऽस्ति। (सः) तस्मात् स मनुष्यः। (देवेषु) विद्यादिदिव्यगुणेषु विद्वत्सु वा प्रवर्त्तमानः सन्। (इत्) सुखेनैव। (गच्छति) परमानन्दं प्राप्नोति न चान्यथेति। (इत्) अत्र निश्चयार्थोऽस्ति ॥

अयमपि मन्त्रः सायणाचार्यादिभिरन्यथा व्याख्यातः। भौतिकाग्नेर्जडत्वाद्यज्ञरक्षणं न संभवति सर्वव्यापकत्वं चातः॥ विश्वतः परिभूरसीत्यग्नेरीश्वरस्यैव विशेषणत्वात्। एवमेव डाक्तरविलसनाख्यकृतं वेदार्थयत्नाख्यं च व्याख्यानमस्य मन्त्रस्य सम्यङ् नास्तीति गम्यते ॥ ४ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(अग्ने) हे परमेश्वर अग्ने ! (विश्वतः परिभूरसि) सब संसार में परिपूर्ण होके (यं यज्ञमध्वरम्) रक्षा करने के योग्य यह जगत्‌रूप जो यज्ञ, अथवा अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त जो यज्ञ, तथा आप की स्तुति प्रार्थना और उपासना का यथावत् करना जो यज्ञ, इन तीन प्रकार के यज्ञ का रक्षण आप ही कर रहे हो। इस कारण से यज्ञ परिपूर्ण होके सुखरूप फल को सदा करता है। जो मनुष्य इस यज्ञ के अनुष्ठान करनेवाला है उसकी भी रक्षा करनेवाले आप ही हो। (स इद्देवेषु) सो मनुष्य विद्या मोक्षादि दिव्यगुणों में और श्रेष्ठ विद्वानों के संग करने में प्रवर्त्तमान होके सुखपूर्वक ही आनन्द को (गच्छति) प्राप्त होता है अन्य प्रकार से नहीं ॥

इस मन्त्र को भी सायणाचार्य और डाक्टर विलसन साहेब ने तथा वेदार्थयत्नादि में अन्यथा व्याख्यान किया है। क्योंकि जड़ पदार्थ को रक्षा करने का ज्ञान ही नहीं होता और वह सर्वत्र व्यापक भी नहीं हो सक्ता। इससे उनका व्याख्यान ठीक नहीं ॥ ४ ॥

॥ अथ द्वितीयोर्थः ॥

(अग्ने) हे परमेश्वर ! भवद्रचितगुणोऽयमग्निः, शिल्पक्रियामयं (यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूः०) सर्वतो व्याप्तवानस्ति, यः परितः सर्वषां शिल्पविद्यासाधनानामुपरि विराजमानः सन् सर्वशिल्पविद्यायाः प्रधानसाधनं वर्त्तते, तमग्निं त्वं रचितवानसि। एवं तेनाग्निना निमित्तभूतेन यो मनुष्यः शिल्पविद्यां गृह्णाति (स इद्देवेषु) स एव पुरुषो दिव्येषु द्योतमानेषूत्तमेषु भोगेषु स्थिरः सन् परमानन्दं (गच्छति) प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(अग्ने) जो कारीगरी क्रिया का मुख्य हेतु है। जिससे विमान आदि यान सिद्ध होते हैं जिनसे मार्ग में शीघ्र गमन कर सकें। हे परमात्मन् ! उस अग्नि को अनेक गुणयुक्त आपने ही उत्पन्न किया है। इसी अग्नि के गुणों के ज्ञान से जो मनुष्य पदार्थविद्या को सिद्ध करता है वही दिव्यभोगों में स्थिर होके सदैव अत्यन्त सुखी रहता है ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमी ऋक्

मू०—अ॒ग्निर्होता॑ क॒विक्र॑तुः स॒त्यश्चि॒त्रश्र॑वस्तमः। दे॒वो दे॒वेभि॒रा ग॑मत् ॥ ५ ॥

प०—अ॒ग्निः। होता॑। क॒विऽक्र॑तुः। स॒त्यः। चि॒त्रश्र॑वःऽतमः ॥ दे॒वः। दे॒वेभिः। आ। ग॒म॒त् ॥ ५ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(अग्निः) पूर्वोक्तविशेषणयुक्तः परमेश्वरोऽग्निः। (होता) सर्वोत्तमपदार्थानां दाता पृथिव्यादीनामादाता ग्रहीता यो धारणकर्त्तास्ति। (कविक्रतुः) कविश्चासौ क्रतुश्च स कविक्रतुः। कविः = सर्वज्ञः क्रान्तप्रज्ञः सर्वेषां जीवानां बुद्धेः क्रमिता तदग्रे न कस्यापि बुद्धिः क्रमते सर्वेषां बुद्धेः प्रभुत्वात्। क्रतुः = सर्वजगत्कर्त्ता। (सत्यः) अस्तीति सत् सति साधुः सत्यः सर्वदा विनाशरहितः। (चित्रश्रवस्तमः) चित्रमाश्चर्यं श्रवः श्रवणं यस्य स चित्रश्रवा.। अतिशयेन चित्रश्रवाः, इति चित्रश्रवस्तमः ॥ इत्यत्रार्थे प्रमाणम्—श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोपि बहवो यन्न विद्युः। आश्चर्यो वक्ता कुशलोस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ कठोपनि० वल्ली २ ॥[1] इत्यनेनाश्चर्यश्रवणत्वं परमेश्वरे एव घटते नान्यत्रेति। (देवः) स जगदीश्वरः सर्वजगत्प्रकाशकः। (देवेभिरागमत्) दिव्यैः सर्वज्ञपरमानन्दादिभिर्गुणैः सह, अस्माकं हृदयेऽस्मिन्संसारे च प्रकाशमागमत्, आगच्छतु। स्वसामर्थ्येन कृपया च सर्वथा प्रकाशितो भवत्विति प्रार्थ्यतेस्माभिः ॥ कविसत्यशब्दार्थौ यास्केनाप्येवं व्याख्यातः—कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा प्रसुवति भद्रमित्यादि ॥ नि० अ० १२। खं० १३ ॥ कुङ् शब्दे, कु शब्दे, कवते, कौति वा सर्वविद्यायुक्तं वेदशास्त्रमुपदिशति स कविरीश्वरः। प्रसुवति भद्रं = भद्रैश्वर्योत्पादनदानाभ्याम् ॥ सत्यं कस्मात् सत्सु तायते सत्प्रभवं भवतीति वा इति ॥ नि० अ० १२। खं० १३ ॥ सत्सु गुणेषु, भोगेषु, पदार्थेषु वा संतानयति पालयति वा सर्वान् जनान् यः। सत्प्रभ० = सता ज्ञानेन योगेन धर्मेण वेदैर्वा प्रभवः प्रकटता यस्य च ॥ अतः स परमेश्वर एव सत्यो भवितुमर्हति नान्यः।

अयमपि मन्त्रः सायणाचार्येण तथा तदनुसारिभिरध्यापकविल्सनाख्यादिभिश्च न सम्यग्वर्णितः। कुतः। अस्य मन्त्रस्यार्थो होममात्रसंबन्धेनैव वर्णितस्तस्मात्। एवमेव प्राकृतभाषाकृताप्यर्थोन्यथैवास्तीति बोध्यम् ॥ ५ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(अग्निः) पूर्वोक्त विशेषणयुक्त जो परमेश्वर है। (होता) जो सत्यविद्यादि शुभगुण और चक्रवर्त्ति राज्य ऐश्वर्य का देनेवाला है, तथा जो पृथिव्यादि लोकों का धारण करनेवाला है। (कविक्रतुः) और जो सब का जाननेवाला है और सब की बुद्धि का अध्यक्ष है उसको कवि कहते हैं। जिसके सामने सबकी बुद्धि अल्प हो जाती है। क्योंकि वह सबकी बुद्धियों का प्रभु है, तथा क्रतुः = जो सब सब जगत् का

---

१. कठोप० २।७

करनेवाला है। (सत्यः) जिसका नाश कभी नहीं होता। (चित्रश्रवस्तमः) जिसका कथन, श्रवण और स्वरूप अत्यन्त अद्भुत है। (देवो देवेभिरागमत्) उस परमेश्वर की सत्यभाव से हम लोग भक्ति करते हैं वही जगदीश्वर एक अद्वितीय देव है। क्योंकि प्रकाश करनेवाले जो सूर्य आदि सब लोक हैं उनका भी प्रकाशक एक वही परमेश्वर है और उसका प्रकाश करनेवाला दूसरा कोई नहीं, किंतु वह तो आप से आप ही प्रकाशित है। वह परमेश्वर जो सर्वज्ञ और परमानन्दादि दिव्य उत्तम गुण हैं उनके सह वर्तमान हमारे हृदय और इस संसार में कृपा करके प्रकाश को प्राप्त हो, ऐसी प्रार्थना उसकी हम लोग करते हैं जिससे वह अपनी कृपा करके जगत् के बीच में सर्वदा प्रकाशित हो। श्रवणाया० = जिस परमेश्वर को सुनने को बहुत मनुष्य प्रवृत्त होते हैं परन्तु उन में से जो विद्वान् सत्याचरण करने वाले हैं वे ही परमेश्वर को सुन के प्राप्त होते हैं और जो इस प्रकार के नहीं हैं, वे परमेश्वर को सुन के भी प्राप्त नहीं होते। क्योंकि इस परमेश्वर का यथार्थ उपदेश करनेवाले का मिलना कठिन है, तथा ब्रह्म जाननेवाले से परमेश्वर को सुन के जाननेवाला भी कठिन है, सो जो कुशल अत्यन्त चतुर है वही इस ब्रह्म को प्राप्त होता है। क्योंकि इसका जाननेवाला अत्यन्त अद्भुत है और इस कुशल पुरुष के उपदेश से भी जो इस ब्रह्म को यथावत् जानता है वह भी इस जगत् में आश्चर्यरूप ही है इस कारण से परमेश्वर को चित्रश्रवस्तम इस मन्त्र में विशेषण दिया है, तथा सत्सु ता० = जो सत्य गुण, सत्य भोग, सत्य पदार्थ और सत्यव्यवहार हैं, इन में ही जो मनुष्य प्रवर्त्तमान हैं उनको जो सुख में विस्तृत करता है, किंवा उनका जो पालनकर्त्ता है इससे परमेश्वर का सत्य नाम है, तथा सत्प्रभवं० = जो सत्य ज्ञान, सत्य योग, सत्य धर्म और सत्य जो वेद हैं, इनसे ही जिसकी प्रकटता होती है इसलिये परमेश्वर का नाम सत्य है॥

इस मन्त्र का भी सायणाचार्यादि अध्यापक विलसन साहेब ने और वेदार्थयत्न में भी अच्छी रीति से व्याख्यान नहीं किया है॥ ५॥

॥ अथ द्वितीयोऽर्थः ॥

(अग्निर्होता) अग्निर्भौतिकोऽश्वः। होता सर्वशिल्पविद्यागुणधारकोऽस्ति। (कविः) शिल्पविद्यायाः क्रान्तदर्शनः क्रमप्रकाशकः। (क्रतुः) शिल्पविद्या क्रियते येन सोयं क्रतुः। (सत्यः) सति शिल्पविद्याव्यवहारे साधुर्यः स सत्योऽग्निः। (चित्रश्रवस्तमः) विद्युदादिस्थगुणानां चित्रमद्भुतं श्रवः श्रवणं यस्मिन्सः। अतिशयेन चित्रश्रवा इति चित्रश्रवस्तमः। (देवः) शिल्पविद्यादिगुणद्योतकः सोऽग्निः। (देवेभिः) शिल्पविद्याद्योतकैर्गुणैर्दिव्यैः सह वर्त्तमानो योऽग्निरस्ति सः। हे परमेश्वर ! भवत्कृपया (आगमत्) अस्माभिर्ज्ञातो भवतु। येन सर्वां शिल्पविद्यां वयं लभेमहि॥ ५॥

॥ भाषार्थ ॥

(अग्निर्होता) जिस अग्नि का नाम अश्व है और जो सब शिल्पविद्या के गुणों का धारण करनेवाला है। (कविक्रतुः) कविः = जो शिल्पविद्या का प्रकाश करनेवाला और क्रतुः = कि शिल्पविद्या जिससे की जाती है। (सत्यः) कारीगरी में जो साधु उत्तम साधन है। (चित्रश्रवस्तमः) बिजुली आदि में अत्युत्तम जो वेगादि गुण हैं वे जिसमें सुनते हैं और जिसमें अत्यन्त अद्भुत सामर्थ्य ईश्वर ने रक्खा है। (देवो देवेभिः०) जो अग्नि वेगादि गुणों का प्रकाश करनेवाला है सो हमारे शिल्पविद्याव्यवहार में अत्यन्त उपकार करनेवाला आपकी कृपा से हो। जिससे शिल्पविद्या में जो दिव्यगुण उनको हम लोग यथावत् सिद्ध करके अत्यन्त सुखी हों॥ ५॥

इति प्रथमेऽध्याये प्रथमो वर्गः॥

[अ० १, अ० १, वर्ग २]

अथ षष्ठो मन्त्रः—

मू०—यदुङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भुद्रं करिष्यसि । तवेत्तत् सुत्यमङ्गिरः ॥ ६ ॥

प०—यत् । अङ्ग । दाशुषे । त्वम् । अग्ने । भुद्रम् । करिष्यसि ॥ तव । इत् । तत् । सुत्यम् । अङ्गिरः ॥ ६ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(यदङ्ग) हे अग्ने प्रापणीयेश्वर ! हे अङ्ग सर्वमित्र ! तुभ्यं सर्वपदार्थदात्रे परमेश्वराय, यो मनुष्य आत्मप्राणाद्युत्तमपदार्थान् दत्तवानस्ति, तस्मै (दाशुषे) त्वय्यत्यन्तप्रेमकारिणे मनुष्याय । (भद्रम्) भजनीयं परमानन्दस्वरूपं मोक्षाख्यं कल्याणं सुखं च । (त्वमग्ने) त्वमेव । (करिष्यसि) करोषि वेति निश्चयो नः । (तवेत्तत्स०) हे अङ्गिरः प्राणानां रसभूतपरमेश्वरेदं सत्यं व्रतं शीलं तवैवास्ति न कस्यचिदन्यस्येति, त्वया यद्भद्रं क्रियते तदेव सत्यमविनाशिरूपमस्ति नान्यदीदृशमिति विजानीमः ॥

यास्काचार्येण भद्रशब्दार्थ एवं वर्णितः—भद्रं भगेन व्याख्यातं भजनीयं भूतानामभिद्रवणीयं भवद्रमयतीति वा भाजनवद्वा इति ॥ नि० अ० ४ । खं० ९ ॥ प्राणो वा अङ्गिराः ॥ श० कां० ६ । अ० १ ॥[1] अङ्गिरसो अङ्गानाᳬं हि रसः । प्राणो वा अङ्गानाᳬं रसः ॥ श० कां० १४ । अ० ४ ॥[2] यजमानो वै दाश्वान् इति ॥ श० कां० ७ । अ० ३ ॥[3]

अयमर्थः—यत्र दुःखं लेशमात्रमपि नास्ति, यन्मुक्त्याख्यं परमसुखं सत्यमस्ति तदत्र विज्ञेयम् । परमेश्वरं यजते स यजमानो विद्यादिदानशीलः स दाश्वान् । अङ्गानां पृथिव्यादीनां सारभूतोन्तर्यामी परमेश्वरः सर्वस्य प्राणभूतत्वाद्रसोस्तीति बोध्यम् ॥ अतः सायणाचार्येण वेदार्थयत्नकृताऽध्यापकविलसनादिभिश्चायं मन्त्रो यथावन्नैव व्याख्यात इति विज्ञायते ॥ ६ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(अग्ने) हे प्राप्ति होने के योग्य ईश्वर अग्ने ! (अङ्ग) हे अङ्ग, सब के परममित्र ! (दाशुषे) जो मनुष्य आपको प्राण और आत्मा आदि का समर्पण करता है, जो आप में अत्यन्त प्रेम करनेवाला है, (भद्रं) परमानन्दस्वरूप जो मोक्ष का सुख, सो उस मनुष्य को आप ही देनेवाले हो । (अङ्गिरः) हे प्राणों का प्राण ईश्वर ! जो प्राणवत् प्रिय सुख है सो आपकी कृपा से ही होता है । क्योंकि (तवेत्तत्सत्यं) वह आप का ही स्वभाव है, जो सत्य सुखों को ही देना, यह सामर्थ्य अन्य किसी का नहीं । जो आपका दिया सुख है वही एक नित्य है, इससे दूसरा कोई ऐसा सुख नहीं है ॥ इसको व्याख्या निरुक्त और शतपथ की भाष्य में लिखी है सो देख लेना । इससे यह जानना कि सायणाचार्य, वेदार्थयत्न तथा डाक्तर विलसन साहेब आदि के व्याख्यान में इस मन्त्र का अर्थ ठीक नहीं किया है ॥ ६ ॥

अथ सप्तमो मन्त्रः

मू०—उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम् । नमो भरन्त एमसि ॥ ७ ॥

प०—उप । त्वा । अग्ने । दिवेऽदिवे । दोषाऽवस्तः । धिया । वयम् ॥ नमः । भरन्तः । आ । इमसि ॥ ७ ॥

---

१. शत० ६ । १ । २ । २८ ॥ २. शत० १४ । ४ । १ । २१ ॥ ३. शत० ७ । ३ । १ । २९ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(उप त्वाग्ने) हे अग्ने पूज्यतमेश्वर ! (दिवेदिवे) प्रतिदिनं नित्यं । (धिया) बुद्ध्या । (त्वा) त्वाम् । वयं (उपैमसि) तव उप सामीप्यं आ सर्वतः, इमः प्राप्नुमः । तथा (दोषावस्तः) अहर्निशं निरन्तरम्[1] । (भरन्तः) ज्ञानेन प्रेमभक्तिं धारयन्तः सन्तो, (वयं) त्वां (नमः) नमस्कुर्मः । यतो भवान् सद्योऽस्मान् प्राप्नुयात् । भवत्प्राप्त्या वयं सुखिनो नित्यं भवेम ॥

अत्र मन्त्रव्याख्याने सायणाचार्याध्यापकविलसनादिभिर्भौतिकाग्निमात्रस्यैव गृहीतत्वात् तद्व्याख्यानमन्यथास्ति । कुतो, भौतिकाग्नेरनायासेन होममात्रे प्राप्तत्वान्नमस्करणीयाभावाच्चेति ॥ ७ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(उप त्वाग्ने) हे अग्ने ईश्वर ! हमको एक पूज्य आप ही हो । हम लोग (धिया) बुद्धि जो ज्ञान है इससे । (दिवेदिवे) सब दिन के लिये, आपके समीप को (त्वामुपैमसि) शरणागति को प्राप्त होते हैं । (दोषावस्तः) तथा दिन और रात्रि में, सत्य भक्तिपूर्वक आप को (वयम्) हम लोग, नित्य ही (नमो भरन्तः) नमस्कार करते हैं, जिससे कृपा करके आप हमको शीघ्र प्राप्त हों । आपकी प्राप्ति से हम लोग निरन्तर सुखी हों ॥ सायण, डाक्तर विलसन और वेदार्थयत्नादि के कर्त्ताओं ने इस अर्थ को जाना भी नहीं ॥ ७ ॥

॥ अथ द्वितीयोर्थः ॥

(उप त्वाग्ने) हे पूर्वोक्तविशेषणयुक्तेश्वराग्ने ! भवन्तमुपगता नमस्कुर्वन्तः कथयन्तश्च भवन्तं नित्यं प्रार्थयामः । भवत्प्रार्थनया त्वद्रचितस्य भौतिकाग्नेः सकाशाद् वायुवृष्टिशुद्धिकरं यज्ञानुष्ठानं शिल्पविद्यामयं च प्राप्नुयाम । एतदर्थं निरन्तरं नमोऽस्तु ते ॥ ७ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(उप त्वाग्ने) हे परमेश्वर अग्ने ! हम लोग आपके शरणागत हैं । नित्य आपको नमस्कार और प्रार्थना करते हैं कि जो जो आपने भौतिकाग्नि में गुण रक्खे हैं उन उन गुणों से हम लोग सुगन्धि आदि पदार्थों का होम करके वायु तथा वर्षा के जल की शुद्धि करें तथा शिल्पविद्या को भी प्राप्त हों । इसलिए और मोक्षादि सुख के लिये भी आपको निरन्तर नमस्कार करते हैं ॥ ७ ॥

अथाष्टमो मन्त्रः

मू०—राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम् । वर्धमानं स्वे दमे ॥ ८ ॥

प०—राजन्तम् । अध्वराणाम् । गोपाम् । ऋतस्य । दीदिविम् ॥ वर्धमानम् । स्वे । दमे ॥ ८ ॥

॥ भाष्यम् ॥

एमसीत्यनुवर्त्तते ॥ (अध्वराणाम्) अग्निष्टोमादियज्ञानां तत्कर्तॄणां धर्मात्मनां मानवानां च । (गोपाम्) रक्षकं । तथा (राजन्तम्) सूर्यादीनां लोकानां मध्ये योगिनामात्मनश्च मध्ये धारकान्तर्यामितया राजन्तं सदा प्रकाशमानम् । (ऋतस्य दीदिविम्) सत्यविद्यामयस्य वेदचतुष्टयस्य मोक्षस्य च, दीदिविम् = सम्यक् प्रकाशकम् । तथा (स्वे) स्वकीये । (दमे) परमोत्कृष्टे पदे । (वर्धमानम्) अत्यन्तवृद्धिमन्तम् ।

---

१. स्वरानुरोधेन सम्बुद्ध्यन्तमिदम् । यजुर्भाष्येऽपीदं ग्रन्थकृता व्याख्यातम् । द्र० यजु० ३ । २३ ॥

एवंभूतं परमेश्वरमग्निं त्वां वयं सदैवोपैमसि। भवत्परमपदमोक्षप्राप्तये परमप्रेम्णा सर्वतः सदा भवन्तं जगदीश्वरमेवोपाप्नुमः। यतोऽस्मिन्नेव जन्मनि भवत्कृपयास्माकं निश्चितो मोक्षो भवेदिति नित्यमिच्छामः ॥ ८ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(अध्वराणां गोपाम्) अध्वर जो अग्निष्टोम आदि यज्ञ और इन यज्ञों के करनेवाले जो धर्मात्मा मनुष्य हैं उनकी जो यथावत् रक्षा करनेवाला है। तथा (राजन्तम्) सूर्य आदि जो लोक उनके बीच में और योगियों के आत्मा के बीच में जो धारण करनेवाला और अन्तर्यामी रूप से प्रकाशमान है। तथा (ऋतस्य दीदिविम्) सत्यविद्यास्वरूप जो चारों वेद हैं उनका और मोक्ष का जो प्रकाश करनेवाला है। (वर्धमानं स्वे दमे) स्वे=अपना जो दमे=परमपद है उसमें वर्धमान=सब सामर्थ्य से युक्त होके जो सदा विराजमान है, और जो मनुष्य मोक्ष को प्राप्त होते हैं उनको अपने उस परमपद में विज्ञान और आनन्दादि गुणों से जो सदा बढ़ानेवाला है, उस परमात्मा को मोक्ष आदि सुखों की प्राप्ति के लिये (उपैमसि) हम लोग प्राप्त होते हैं। अर्थात् हे परमेश्वर ! सत्य प्रेम भक्ति से हम लोग आपको सदा प्राप्त रहें कि आप और आपकी आज्ञा से विरुद्ध हम लोग कभी न हों। जिससे हम लोगों को आपकी प्राप्ति से मोक्ष आदि सुख इसी जन्म में प्राप्त हों ॥ ८ ॥

अथ नवमो मन्त्रः

मू०— स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये ॥ ९ ॥

प०—सः। नः। पिताऽइव। सूनवे। अग्ने। सुऽउपायनः। भव ॥ सचस्व। नः। स्वस्तये ॥ ९ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(सः) यः। अग्निमीळे पुरोहितमित्यादिमन्त्रेषु[1] पुरोहितादिविशेषणैः प्रतिपादितोग्निसंज्ञः परमेश्वरः सोऽत्र गृह्यते। (अग्ने) हे परमात्मन्! (नः) अस्मान्। (सूपायनः) स्वकृपया सुखेनैव प्राप्तस्त्वं भव। तथा हे परमेश्वराभिधाग्ने! (नः) (स्वस्तये) ऐहिकपारमार्थिकसुखायास्मान् स्वकृपया। (सचस्व) समवेतान् कुरु। अर्थात् तत्सुखेन सह वर्त्तमानानस्मान्सदा कुरु। एवं तत्सुखस्य यथावत् सिध्यर्थं सचस्व त्वं नित्यं समवेतः कृपयानुकूलो भव। कस्मै क इव (पितेव सूनवे) यथा स्वसंतानाय स्वप्रजायै अत्यन्तप्रेम्णानुकम्पयमानः संतानसुखाय प्रवर्त्तमानः पिता इव। कुतः ? भवानेवास्माकं पितास्त्यतः ॥

वर्गद्वयस्थैर्नवभिर्मन्त्रैरग्निहोत्राद्यश्वमेधपर्यन्तेषु वायुवृष्टिजलशुद्धिप्रयोजनेषु यज्ञेषु युक्तिप्रमाणसिद्धानां कर्मणामनुष्ठानं कर्तुं योग्यमस्ति, परन्तु सूत्रब्राह्मणग्रन्थेषु यादृशो विनियोगः प्रतिपादितः सोप्यत्र तदुक्तरीत्या कार्य्यः[2] ॥ ९ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(सः) अग्निमीळे इत्यादि आठ ८ मन्त्रों में पुरोहित आदि विशेषणों से जिस परमेश्वर का कथन किया है, उसी का 'सः' शब्द से ग्रहण होता है। (अग्ने) हे परमेश्वर अग्ने! अपनी कृपा से ही (नः)

---

१. ऋ. १।१।१। आदि शब्दादष्टमपर्यन्तेषु मन्त्रेषु।

२. तुलना कार्या—कर्मकाण्डस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्।······तस्माद् युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति। ऋ. भा. भू. पृष्ठ ३८२।

हमको प्राप्त हो। तथा (सूपायनः) इस लोक और परलोक के सुख के लिये। (नः) हमको। (सचस्व) संयुक्त कर। तथा आप भी हमारे सहायकारी नित्य रहो। तथा (स्वस्तये) सद्विद्यादि शुभगुणों में मोक्ष आदि सुख के लिये हमको सदा युक्त कर। जिससे स्वस्ति = जो परम सुख सो सदा हमको प्राप्त हो। जैसे पिता अत्यन्त प्रेम से अपने संतानों को सुख देता है, वैसे ही आप हमको पुरुषार्थ से आनन्दयुक्त करके नित्य पालन करो। क्योंकि आप ही हम लोगों के पिता हो। इससे हमको सुख देनेवाले एक आप ही हो॥ ९॥

इति प्रथमस्याष्टकस्य प्रथमेऽध्याये द्वितीयो वर्गः॥

प्रथमं सूक्तं समाप्तम्॥

अ० १, अ० १, वर्ग ३।

॥ सूक्तम् ॥२॥

वायवा याहीत्यस्य नवर्चस्य सूक्तस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। तत्र प्रथमद्वितीयतृतीयमन्त्राणां वायुर्देवता, चतुर्थपञ्चमषष्ठमन्त्राणाम् इन्द्रवायू देवते, सप्तमाष्टमनवममन्त्राणां मित्रावरुणौ च देवते। सर्वस्य सूक्तस्य गायत्रीच्छन्दः। षड्जः स्वरश्च॥

अथ प्रथमो मन्त्रः

मू०—वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः। तेषां पाहि श्रुधी हवम्॥ १॥

प०—वायो इति। आ। याहि। दर्शत। इमे। सोमाः। अरम्ऽकृताः॥ तेषाम्। पाहि। श्रुधि। हवम्॥ १॥

॥ भाष्यम् ॥

(वायो) हे वायो अनन्तबल सर्वप्राण अन्तर्यामिन्! (दर्शत) द्रष्टुं योग्य प्रेक्षणीयेश्वर कृपया अस्मद्धृदेशं (आयाहि) आगच्छ, नित्यं प्रकाशको भव। (इमे सोमाः) सर्वे पदार्थाः। भवतैव (अरंकृताः) अलंकृताः भूषिताः। सन्ति। (तेषां पाहि) तान् त्वमेव रक्ष। तथा (हवम्) स्तोत्रभागं त्वं (श्रुधी) श्रुधि शृणु। अस्मत्कृतां स्तुतिं सद्यो निशामय ८॥

वायुः परमेश्वरस्य नामास्ति। प्रथममन्त्रभाष्योक्तान्यपि प्रमाणान्यत्र वेद्यानि। अन्यच्च—नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासीत्यादीन्यपि च तैत्तिरीयोपनिषदि अ० १ वल्ली १ अनु० १॥ इत्येकोर्थः॥

॥ अथ द्वितीयोर्थः ॥

(वायो) अयं भौतिको वायुः (दर्शत) दर्शतः द्रष्टव्यः, पदार्थविद्यार्थं प्रेक्षणीयोस्ति। येन वायुना (इमे सोमाः) सोमवल्ल्याद्या ओषधयः, तद्रसाश्च। (अरंकृताः) तेनैवात्युत्तमा भवन्तीति जानीमः। कुतः? (तेषां पाहि) तेषां पाता रक्षकः स एवास्ति। यज्ञे सुगन्ध्यादिहोमेन शुद्धः सन् स एव पाति रक्षत्यतः। तथा (हवम्) देयं ग्राह्ययोग्यं विद्यान्वितं शब्दम् (श्रुधी) श्रुधि येन सर्वे जीवाः शृण्वन्ति स च श्रावयति विद्योपदेशार्थं यदाख्यानं भवति। तत्राचेतने चेतनवद्व्यवहारे न दोषो भवति।

भौतिको वायुर्द्वितीयेर्थे गृह्यते। कुतः? वायुशब्दग्रहण एतत्प्रयोजनं विद्याद्वयं यथा गृहीतं स्यात्। अन्यथा प्रभो वा स्पर्शवन् इत्येवं [वा] ब्रूयात्। यथा प्रथमसूक्ते व्यावहारिकपारमार्थिकविद्याद्वयमग्निशब्दग्रहणेनैवेश्वरः प्रकाशितवान्। तथास्मिन् द्वितीये सूक्तेपि बोध्यम्। व्यवहारविद्यायामग्नेर्मुख्यकारणत्वात् प्रथमं ग्रहणं कृतम्, ततः तदनुसंगित्वाद्[1] वायोर्द्वितीयसूक्ते ग्रहणं च। वायुरेवाग्नेर्वर्धकोस्तोत्तो याग्निविद्या

१. षत्वं विनाऽयं प्रयोग ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायामपि प्रयुज्यते। द्र० पृष्ठ ७७॥

प्रथमे द्वितीये च वर्गे उक्ता तस्या अपि वायुः कारणम्। वायुसहायेन विनाग्निरप्यकिंचित्करो भवति स्थावरजङ्गमस्य द्विविधस्य जगतो वायुर्वृद्धिरक्षाकरोऽस्ति। अतएव रक्षकः। तथा श्रवणकथनादिचेष्टामयस्य व्यवहारस्य वायुरेव मुख्यं कारणमस्ति। तस्माद्वायुगुणोपदेश ईश्वरेण कृतोऽस्ति ॥ १ ॥

अत्रोभयार्थे प्रमाणानि—व्यत्ययो बहुलम्। अष्टाध्याय्याम् अ० ३ पा० १।[1] अस्य सूत्रस्योपरि भाष्ये कारिकास्ति—

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेनेति ॥ १ ॥

प्रातिपदिकनिर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति। न कांचित्प्राधान्येन विभक्तिमाश्रयन्ति। यां यां विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धिरुपजायते सा सा आश्रयितव्या। (अ० १, पा० १। सू० ५५)। स्थानिवदादेशोनल्विधावित्यस्य सूत्रस्योपरि भाष्यवचनम्।

अर्थगत्यर्थश्शब्दप्रयोगः। न वेति विभाषे[2]त्यस्य सूत्रस्योपरि भाष्यसूत्रम्[3]। अर्थवशाद्विभक्तेर्विपरिणामः। इति भाष्योक्ता परिभाषेयम्[4]। अथैषां संक्षेपतोऽर्थः। वैदिक शब्दनिर्देशे[5] ॥

१. अष्टा० ३।१।८५ ॥ २. अष्टा० १।१।४३ ॥
३. अत्र टिप्पणी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाम् ३९८ तमे पृष्ठ उक्ता द्रष्टव्या।
४. महाभाष्य अ० १।३।९॥ ५. भाष्यनिदर्शनाङ्के (नमूने के अङ्क में) अत्र पर्यन्तमेव पाठः।

वेदभाष्य-सम्बन्धी पत्र[1]

मन्त्री आर्यसमाज लाहौर की ओर से,

डक्टर जी. डबल्यू. लाइटनर, एम. ए. बार. एट ला,

रजिस्ट्रार पंजाब यूनिवर्सिटी कालेज सिमला।

श्रीमन् !

पञ्जाब सरकार ने आप के यूनिवर्सिटी कालेज की सैनेट को पण्डित स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के गुणों को जानने के लिए एक पत्र भेजा था। उसका परिणाम जानने के लिए दक्षिण में मुम्बई और पूना की, पश्चिमोत्तर प्रान्त में मुरादाबाद और शाहजहाँपुर की और पञ्जाब में लाहौर और अमृतसर की आर्य-समाजें अत्यधिक उत्सुक थीं। जूंही मैसर्ज ग्रिफिथ और टानि तथा लाहौर के कुछ पण्डितों की दी हुई सम्मतियाँ प्रकाश में आईं, तब भी आर्य-समाज लाहौर ने, अभिमानी समझे जाने के भय में पड़ कर भी, अपना यह कर्तव्य समझा कि आप को ऐसी सूचना दी जाए, जैसी इसकी सम्मति में, सैनेट ऐसी विद्वत्-सभा को अधिक ठीक और परिपक्व निर्णय पर पहुँचने के योग्य बना दे। वह विद्वत्सभा वह सब कुछ सुन ले, जो उस भावी कार्य के अनुकूल या विरुद्ध कहा जा सकता है।

स्वामी दयानन्द ने स्वयं भी इस विषय पर एक लेख लिखा है। समाज उसे स्वामी दयानन्द सरस्वती के आलोचकों के समस्त आक्षेपों का सन्तोषदायक उत्तर समझता है। वह मूल लेख भी साथ ही भेजा जाता है।[2]

प्रतीत होता है कि महाभारत-काल से पहले, जिसे यूरोपियन काल-गणना के अनुसार तथा बहुत न्यून गिनती से भी ईसा के संवत् से ६०० या ७०० वर्ष पहले सरलता से धरा जा सकता है, भारत में वेदों का पठन-पाठन नियम से होता था और उन पर भाष्य रचे जाते थे। उस समय ऐसे गुरुकुल वा विद्यालय थे, जिन में केवल वेद ही अध्ययनाध्यापन में आते थे, और भाष्य, कोष तथा व्याकरण लिखे जाते थे। ये ग्रन्थ इस लिए रचे जाते थे कि वेदमन्त्रों का व्याख्यान और स्पष्टीकरण हो। इन में से कई ग्रन्थ, काल के अनेक विनाशों के होने पर भी हम तक पहुँच पाए हैं। ये ग्रन्थ यद्यपि अलभ्य हैं, पर सर्वथा अप्राप्य नहीं हुए। इन में सब से अग्रणी ब्राह्मण, निरुक्त, निघण्टु और पाणिनि का व्याकरण आदि हैं। अत एव यही ग्रन्थ वेदों के सब से पुरातन और विश्वसनीय भाष्य और व्याकरण हैं। क्योंकि जब महाभारत का महासंग्राम हुआ तो उसने हिन्दू समाज का उसकी जड़तक हिला दिया। उस समय अध्ययन की अपेक्षा लोगों को अपने प्राणों की चिन्ता अधिक थी उस युद्ध में सारा उत्तर भारत एक अथवा दूसरे पक्ष की ओर हुआ।

तब न केवल युद्ध के काल में प्रत्युत उसके शताब्दियाँ पश्चात् वेद घोर लुप्तावस्था में रहे। अधिक शान्तिप्रद कालों के लौटने पर वैदिक विद्या पुनर्जीवित हुई। नए विद्यालय उठे और नए भाष्य निकल पड़े।

---

१. २४ मई १८७७ सोमवार को लगभग १० बजे श्रीस्वामी जी पञ्जाब के लेफ्टिनैण्ट गवर्नर से मिले। देखो लेफ्टिनैण्ट गवर्नर के निजी सचिव मि० जे० ग्रिफिथ का १२ मई का श्री स्वामी जी के नाम पत्र। उसी दिन गवर्नर से वार्तालाप के अनन्तर स्वामी जी ने अपने वेदभाष्य के सहायतार्थ पञ्जाब सरकार को एक पत्र लिखा था। पत्र के साथ ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका और वेदभाष्य का नमूना भी भेजा था। यु. मी.

२. यह लेख इस पत्र के आगे छापा जा रहा है। यु. मी.

इन्होंने पुराने ऋषियों की व्याख्याओं को तिलाञ्जलि दी और अपने युग की प्रवृत्तियों के अधिक अनुकूल व्याख्याएँ कीं। तथापि इससे निकृष्ट समय भी आने वाला था। बौद्ध धर्म भारत में सर्वोपरि हो गया। वेदों के विद्वान् पकड़े और मारे जाते थे। उनकी धार्मिक पुस्तकें जलाई जाती थीं और नष्ट की जाती थीं। ब्राह्मणों ने अभी बौद्धों को देश से निकाला ही था, अभी उन्होंने अपना प्रभुत्व पुनः प्राप्त किया ही था, जब उन्हें एक अधिक भयानक शत्रु से सामना करना पड़ा। महाभारत के युद्ध ने और बौद्ध-धर्म के विस्तार ने जो बात आंशिक रूप में की थी, देश पर मुसलमानों के अधिकार ने वह सर्वथा पूर्ण कर दी। सारी विद्या, सारा वाङ्मय और सारी सच्ची वैदिक विद्वत्ता समाप्त हो गई। इन्हीं उत्तर समयों में सायण, महीधर, उव्वट और रावण[1] के भाष्य हुए। इन से लाभ के स्थान में हानि अधिक हुई। सर्व साधारण लोगों पर इनके भाष्यों का इतना प्रभाव हो गया है कि पुराने भाष्यों को निरर्थक समझा जाता है और उन्हें कभी ही कोई देखता है।

तथापि कुछ दूरी पर एक उज्ज्वल भविष्य होने वाला था। (ईसा की) गत शताब्दी के अन्तिम दिनों में संस्कृत भाषा और वाङ्मय ने कोलब्रुक, जोन्स और कारी (Carey) ऐसे प्रसिद्ध विद्वानों के ध्यान को पुनः अपनी ओर खेंचा। उनके दिए हुए धक्के ने भाषाविज्ञान में ही आश्चर्य नहीं किया, बाप्प, बर्नफ श्लेगल, विलसन, वेबर और मैक्समूलर सदृश चमकते हुए प्राच्य विद्या विशारदों की एक विशेष पंक्ति को ही उत्पन्न नहीं किया, और हमें एक राजेन्द्रलाल मित्र ही नहीं दिया, परन्तु हम आशा करते हैं, वह धक्का अवश्य ही स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के रूप में परिणित होगा। परन्तु इस बात का बड़ा शोक है कि योरोपियन विद्वानों को अपनी अत्यधिक सामग्री के लिये एतद्देशीय पण्डितों पर आश्रित रहना पड़ता है। वे पण्डित ऐसे हैं जिनका अधिक से अधिक ज्ञान भी गहरा नहीं है। और इनमें से भी जो सब से अधिक ज्ञानवान् हैं, सायण और महीधर से अधिक बड़े नाम नहीं जानते। यही कारण है कि वैदिक विद्वत्ता ने अपेक्षाकृत धीमी उन्नति की है और योरोप में वेदों की शिक्षा के सम्बन्ध में अशुद्ध विचार फैले हुए हैं।

प्रति वर्ष, प्रति मास, और दिन-दिन हमारे महान् देश के प्राचीन साहित्य और सभ्यता पर निस्सन्देह अधिक प्रकाश पड़ रहा है। यद्यपि इस साहित्य के लिए योरोप में प्राच्य-विद्या के विद्वानों के सम्मिलित यत्नों द्वारा बहुत कुछ पहले ही किया गया है, परन्तु इससे भी अधिक अभी किया जाना शेष है। हमें विश्वास है, एक समय आयेगा जब उपस्थित वेदभाष्य वैदिक विद्वत्ता के प्रासाद का मूलाधार समझा जायगा। वेदों की उलटी व्याख्या करने वाले भाष्यकारों द्वारा योरोपियन विद्वान् जिस प्रकार उलटा समझे हैं, उससे यह सर्वथा आश्चर्य नहीं होता कि वे कुछ काल के लिए इस विचार की अवहेलना करें कि वेद एक ही सद्ब्रह्म की उपासना सिखाते हैं। परन्तु हमारी धारणा है कि स्वामी दयानन्द ने जो धक्का अब दिया है, वह अधिक गम्भीर अन्वेषण को प्रोत्साहन देगा और सत्य को प्रकाश में लायेगा। तथापि इस देश के पण्डितों की अपेक्षा योरोपियन विद्वानों से अधिक आशाएँ की जाती हैं। पण्डितों का यह स्वार्थ है कि जब तक वे कर सकें तब तक मूर्तिपूजा और उसकी विधियों को स्थिर रक्खें। समाज इस समय ऐसी ही आशा कर सकता है कि बढ़ता हुआ प्रकाश किसी दिन अन्धकार को दूर करेगा और सब को सचेत करेगा।

---

१. रावण एक दाक्षिणात्य पण्डित था, इसने ऋग्वेद का भाष्य रचा था। इसके पदपाठ का एक हस्तलेख फर्रुखाबाद निवासी पं० केशव देव निर्मल के घर में था। उसका एक अष्टक जिस पर रावण का नाम अंकित था, ३ मार्च १९२७ को श्री मामराज जी ले आए थे। डा० लक्ष्मण स्वरूप ने उसका फोटो कराकर पञ्जाब विश्वविद्यालय लाहौर के पुस्तकालय में रख दिया था, परन्तु मूलकोश उन से नष्ट हो गया। हमने मूलकोश लालचन्द लायब्रेरी लाहौर में देखा था।

योरोप में वैदिक विद्वत्ता सम्प्रति भी थोड़ी है, इसके अधिक प्रमाण अपेक्षित नहीं। योरोप के सब से बड़े वैदिक विद्वान् दृढ़ता से कहते हैं कि अब भी अनेक मन्त्र हैं कि जिनका कोई अर्थ नहीं निकलता। योरोप में अब तक जितना हुआ है वह शब्दों के अर्थों का अनुमान मात्र करने से अधिक नहीं है। इन से (मन्त्रों से) कोई सुसम्बद्ध विचार नहीं निकाले जा सकते। योरोप के सात प्रमुख प्राच्य विद्या-विशारदों के एक मन्त्र के निम्नलिखित अनुवाद, जो मूलार्थ से अत्यधिक भिन्न हैं उच्चस्वर से प्रमाणित करते हैं कि योरोप में वेदार्थ ज्ञान अभी स्थूल रूप में ही है।

उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत। दधाना इन्द्र इद् दुवः ॥ ५ ॥

उत नः सुभगां अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः। स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥ ६ ॥[1]

देखो—ऋग्वेद संहिता की मैक्समूलर की भूमिका पृ० २२—२४।

१. चाहे हमारे शत्रु कहते हैं, किसी और स्थान को चले जाओ तुम जो केवल इन्द्र की पूजा करते हो—

२. अथवा चाहे हे बलशालिन्, सारे लोग हमें भगवान् कहें, हम सदा इन्द्र की रक्षा में रहें।

इन मन्त्रों के सामान्य भाव के सम्बन्ध में मैंने विचारा कि कोई सन्देह ही नहीं हो सकता। यद्यपि इस में एक शब्द अर्थात् 'अरिः' व्याख्या योग्य है। फिर भी अनेक प्रकार की व्याख्याएँ जो विविध विद्वानों ने की हैं, विलक्षण हैं। प्रथम यदि हम सायण को देखें, तो वह अर्थ करता है—

१. हमारे पुरोहित इन्द्र की स्तुति करें। हे शत्रुओं, इस स्थान से चले जाओ और दूसरे स्थान से भी। हमारे पुरोहित (इन्द्र की स्तुति करें) वही जो सदा इन्द्र की स्तुति करते रहते हैं।

२. हे शत्रुओं के नाशक, शत्रु हमें धनवान् कहे, कितना अधिक मित्र लोग! हम इन्द्र की प्रसन्नता में हों।

प्रोफेसर विलसन ने सायण का पूरा अनुकरण नहीं किया। परन्तु उसने अनुवाद किया—

१. हमारा पुरोहित उत्सुकता से उस की स्तुति करता हुआ बोले, ऐ गालियाँ निकालने वालो, यहाँ से चले जाओ और प्रत्येक दूसरे स्थान से (जहाँ वह पूजा जाता है)।

२. हे शत्रुओं के नाशक, हमारे शत्रु कहें कि हम समृद्ध हैं। लोग हमें (बधाई दें)। हम सदा उस आनन्द में वास करें जो इन्द्र की (अनुकूलता से मिलता है)।

लैंगलाएस ने अनुवाद किया—..................[2]

स्टीवन्सन ने अनुवाद किया—

१. इन्द्र की स्तुति में सब लोग पुनः सम्मिलित हो जायें। तुम दुष्ट और घृणा करने वाले सब यहाँ से चले जाओ और प्रत्येक दूसरे स्थान से, जब कि हम इन्द्र सम्बन्धी कृत्य को करते हैं।

२. हे शत्रु-नाशक (तेरी कृपा से) हमारे शत्रु भी हमारे साथ जो हम धनों के स्वामी हैं शान्ति से बोलें। तब क्या आश्चर्य है कि यदि दूसरे आदमी ऐसा करते हैं। हम सदा उस आनन्द को भोगें जो इन्द्र के आशीर्वाद से उपजता है।

प्रोफेसर बैनफी अनुवाद करता है—

१. और घृणा करने वाले कहें, वे हर एक दूसरे से अस्वीकृत किये गये हैं, अतः वे इन्द्र का उत्सव करते हैं।

---

१. ऋग्वेद १।४।५,६॥ २. लैटिन भाषा में होने के कारण इस का अनुवाद नहीं दिया गया।

२. और शत्रु और देश हमें प्रसन्न घोषित करें, हे नाशक यदि हम [केवल] इन्द्र की रक्षा में हैं।

प्रोफेसर राथ ने 'अन्यतः' का ठीक अर्थ लिया है अर्थात् भिन्न स्थान को। और इस लिये उसने उस वचन का यही अर्थ किया होगा किसी दूसरे स्थान को गति करो अर्थात् उसी अर्थ में, जैसा भाव मैंने लिया है। तथापि कुछ काल पश्चात् S. V. ar उसने अपने आप को ठीक किया, और उन्हीं शब्दों का यह अनुवाद प्रस्तावित किया—"तुम किसी अन्य पदार्थ को भुला दो।"

प्रोफेसर ग्रेलेनसन (ओरियण्ट एण्ड आक्सिडेण्ट वाल्यूम १, पृ० ४६२) ने किसी सीमा तक प्रोफेसर राथ के दूसरे अनुवाद का अनुसरण किया और प्रोफेसर बैनफी के अनुवाद को ठीक न समझ कर यह दिखाने का यत्न किया कि "वह अन्य पदार्थ जो भुलाया गया है' कुछ अनिश्चित पदार्थ नहीं है, परन्तु इन्द्र के अतिरिक्त दूसरे सारे देवताओं की पूजा है।

यह है वेदार्थ की [योरुप में] अनिश्चित अवस्था जिसने प्रोफेसर मैक्समूलर को ऋग्वेद संहिता के प्राक्कथन में यह लिखने पर विवश किया है कि उसका अनुवाद अनेक स्थानों में शुद्धि योग्य है और शीघ्र या कालान्तर में इसका स्थान एक नए अनुवाद को लेना पड़ेगा।

और कि भारत में वैदिक विद्वत्ता इस से भी अधिक स्वल्प है, यह इसी बात से जाना जा सकता है कि स्वामी दयानन्द के बारंबार के आह्वानों पर भी एक पण्डित भी अभी तक ऐसा प्रकट नहीं हुआ जो वेदों से यह सिद्ध करे कि उन में मूर्ति पूजा पाई जाती है, यद्यपि वे सब इस बात को कह तो देते हैं। ऐसी अवस्था का यही कारण कहा जा सकता है कि इस देश में वेद अपितु उनके थोड़े २ भाग ही अर्थज्ञान के बिना कण्ठस्थमात्र किए जाते हैं। इस के विपरीत स्वामी दयानन्द न केवल अपनी वाग्मिता से, न केवल अपने तर्क के असाधारण बल से अपने श्रोता गणों के मनों में विश्वास उत्पन्न करा देता है, प्रत्युत अपने वेदभाष्य में शब्दों के इतिहास को खोलता है[1], प्रत्येक बात की व्याख्या करता है कि जिस से वह अपने अर्थ पर पहुँचा है और शब्दों के जो अर्थ करता है उनकी पुष्टि में वेदों, ब्राह्मणों, निघण्टु और पाणिनि के व्याकरण से प्रमाण देता है। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि अपनी महती विद्वत्ता की योग्यता से, अपनी धैर्य युक्त गवेषणा से, अपने काम के लिए असीम प्रेम के द्वारा वह मानव-पुस्तकालय के इस सब से पुराने ग्रन्थ में जीवन-प्राण का संचार कर रहा है। वह उन कठिनाइयों को प्रकट करता है, जिन्होंने अब तक उस (वेद) की स्वतन्त्र उन्नति को रोक रखा है। वह भाषा विज्ञान की सामान्य रूप से और भारतीय भाषा-विज्ञान की विशेष रूप से अचिन्त्य सेवा कर रहा है। उस के वेदभाष्य के एक हजार से ऊपर ग्राहक अब तक बन गए हैं। और ग्राहकों की संख्या प्रति दिन उन्नति पर है। इन बातों का विचार करके और इस बात को जान कर, जैसा कि पंजाब सरकार और भारत में दूसरी प्रान्तीय सरकारें जानती हैं कि वेदों ने भारतीय इतिहास के सब उत्तरवर्ती युगों पर कैसा प्रबल प्रभाव डाला है, और उनका भारतीय वाङ्मय की प्रत्येक शाखा के साथ कैसा घनिष्ठ सम्बन्ध है, और उनके धार्मिक और सदाचार के विचारों ने भारतीय जाति के हृदयों में कितनी गहरी जड़ पकड़ी है, तथा उनके सनातन प्रमाणों से भारतीय जीवन के जनता सम्बन्धी और व्यक्तिगत सब काम नियमित किए जाते हैं, यह सब जान कर समाज विश्वास रखता है कि सरकार ऐसे महाशयों की दी हुई सम्मतियों के अनुकूल नहीं चलेगी कि जो अन्य गुणों के रखते हुए भी, समाज की नम्र दृष्टि में, वैदिक विद्वान् होने की प्रतिष्ठा नहीं रखते।

अन्ततः समाज आज्ञा चाहता है कि उन मुख्य कारणों को संक्षेप से दोहराए कि जिनके आधार पर वह स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य की पंजाब सरकार द्वारा संरक्षकता चाहता है, और आशा

१. अमुक शब्द का क्या अर्थ है और क्यों है? इस रहस्य को ऋषिदयानन्दने शब्दों के यौगिक अर्थ करके दर्शाया है। उसकी ओर यह संकेत है।

प्रकट करता है कि सरकार देश की दूसरी सब प्रान्तीय सरकारों को प्रेरित करे कि वे भी एक महान् सुधारक और विद्वान् के इस पुण्य और परोपकारयुक्त उद्देश्य के प्रोत्साहन में इसके साथ सम्मिलित हों।

(१) कि भारतीय भाषा-विज्ञान यदि यह स्वाभाविक गति[1] पर चले, तो अवश्य ही वेदों के स्वाध्याय से प्रारम्भ होगा। अतः उनके ज्ञान का प्रचार अत्यधिक अभीष्ट है।

(२) कि इस वेदभाष्य के प्रकाश ने गवेषणा का भाव उत्पन्न कर दिया है। इसको प्रोत्साहन देना श्रेष्ठ है।

(३) कि आशा की जाती है कि वेदों के सच्चे ज्ञान के प्रचार द्वारा हिन्दू मन मिथ्या विश्वास और गहरे गड़े हुए पक्षपात से मुक्त होगा।

(४) कि स्वामी दयानन्द का भाष्य उन सब से अधिक विश्वसनीय प्रमाणों पर समाधारित है कि जिनको योरोपीय विद्वान् भी प्रामाणिक स्वीकार करते हैं, परन्तु जिन्हें वे अभी तक पूर्णतया प्रयोग में नहीं लाए।

(५) कि वर्तमान परिस्थितियों में स्वार्थी ब्राह्मणों अथवा भ्रान्त समझने वाले योरोपियनों से निष्पक्ष सम्मतियों की आशा नहीं हो सकती।

अतः पूरा अवसर मिलना चाहिए।

मैं हूँ......................

लाहौर
२५ अगस्त १८७७

जीवनदास
मन्त्री आर्यसमाज

१. भारतीय भाषाविज्ञान की स्वाभाविक गति है—ईश्वर प्रदत्त वैदिकी वाक् से मानुषी (संस्कृत) भाषा की उत्पत्ति अथवा विकास और उससे संसार भर की भाषाओं की उत्पत्ति।

ऋषि दयानन्द का पत्र

ग्रिफ़िथ, टानी, हृशीकेश, भगवान् दास के आक्षेपों के उत्तर में

मुझे वकील हिन्द और यूनीवर्स्टी कालिज पंजाब के [प्रकाशित] पत्रों से ज्ञात हुआ कि कई एक साहबों ने मद्रचित वेदभाष्य पर प्रतिकूल अनुमति दी है। इसलिए मैं उनकी शंकाओं का उत्तर क्रम से निवेदन करता हूं।

प्रथम उन शंकाओं का उत्तर है जो मिस्टर आर. ग्रिफिथ एम. ए. प्रिंसिपल बनारस कालिज ने की हैं। पाँच हजार वर्ष के लगभग से वेद विद्या जाती रही। महाभारत से पहले इस देश में सब विद्या ठीक २ प्रचरित थीं। परन्तु पीछे से पढ़ने-पढ़ाने के ग्रन्थ और रीति बिल्कुल बदल गई। तब से अब तक वही अशुद्ध प्रणाली प्रचरित है। यद्यपि कहीं २ के लोग वेदादिक सत्य ग्रन्थों को कण्ठ कर लेते हैं परन्तु उसके शब्दार्थ को कोई भी नहीं जानता। न ऐसे कोई व्याकरणादिक ग्रन्थ अर्थ सहित पढ़ाये जाते हैं जिन से वेदों का अर्थ हो सके। आधुनिक जो महीधर आदि के बनाए हुए वेदभाष्य देखने में आते हैं वे महाभ्रष्ट और अन्धकार के बढ़ाने वाले हैं। उनके देखने वालों को मद्रचित भाष्य ठीक समझ में नहीं आता। मेरा भाष्य शुद्ध वेदार्थ बोधक और प्राचीन भाष्यों के ठीक अनुकूल है। वह तभी समझ में आवेगा जब लोग प्राचीन भाष्यादिक ग्रन्थों की सहायता स्वीकार करेंगे। मैंने प्रत्येक मन्त्र का अर्थ सत्य प्रतीत होने के अर्थ बहु प्राचीन आप्त व्याख्यानकारों का प्रमाण बहुत स्पष्ट पतेवार लिख दिया है। यदि ग्रिफिथ साहब ने प्राचीन भाष्य वा मेरे लिखे प्रमाणों और उदाहरणों को पढ़ा होता तो कभी उनकी ऐसी विरुद्ध सम्मति न होती जैसी कि इन्होंने हाल में दी है। उवट सायण महीधर रावण आदि के रचे हुए भाष्य प्राचीन भाष्यों से सर्वथा विपरीत हैं। केवल इन्हीं भाष्यों का उलथा अंग्रेजी में विलसन और मोक्षमूलर आदि प्रोफेसरों ने किया है। इसलिए मैं इनके भाष्यों को भी शुद्ध और न्यायकारी नहीं कह सकता। इन्हीं ग्रन्थों के कारण ग्रिफिथ साहब आदि लोग भी सन्देह मार्ग में पड़े हैं और मुझको यह कह कर दूषित करते हैं कि स्वामी जी ने अर्थ पलट कर अपने प्रयोजन के सिद्धार्थ दूसरे ही अर्थ नियत किये हैं। परन्तु उनका यह तर्क सर्वथा निर्मूल है। मैंने सर्वत्र ऐतरेय और शतपथ नामक ब्राह्मण ग्रन्थ और निरुक्त तथा पाणिनीय व्याकरणादिक सत्य ग्रन्थों का प्रमाण देकर प्रत्येक मन्त्र का सत्य २ अर्थ लिखा है। यदि ग्रिफिथ साहब उसको देखते तो कभी ऐसा न लिखते। विचार करता हूँ कि उनने मेरा भाष्य बिना ही देखे भाले अपनी मनमानी अनुमति प्रकाशित कर दी है।

मैं नहीं समझ सकता हूँ कि ग्रिफिथ साहब मेरा श्रम वृथा क्यों समझते हैं, जब कि मेरे भाष्य के लेने वाले हजार से अधिक बड़े-बड़े सत्पुरुष हैं और प्रत्यह नवीन जनों के निवेदन पत्र मेरी पुस्तक लेने के विषय में बराबर चले आते हैं। मेरे ग्राहकों में से बहुत से अच्छे-अच्छे संस्कृतज्ञ और बहुतेरे अँगरेज़ी और संस्कृत में पूरे-पूरे विद्वान् हैं। ग्रिफिथ साहब का यह अन्तिम लेख कि वेदों की ऋचाओं से बहुत से देवताओं के नाम प्रकाशित होते हैं सो उनकी यह बात मुझको तब प्यारी लगे और विद्वानों के समीप प्रामाणिक ठहरे जब वे उस मतलब की कोई ऋचा मुझको लिख भेजें—

पूर्वलिखित की पुष्टि में निम्नलिखित उद्धरण दिये जाते हैं—

(a) ऐच. टी. कोलब्रूक रचित 'दी वेदाज़' से[1]

---

१. यद्यपि वेदों को शीघ्र दृष्टि से देखने से देवताओं के नाम उतने दीख पड़ते हैं जितने कि स्तुति करने वालों

(b) चार्ल्स कोलमैन रचित "माईथालोजी आफ दी हिन्दूज़' से[1]
(c) पादरी गैरट के अनूदित "भगवद्गीता" के परिशिष्ट से[2]
(d) मैक्समूलर रचित "हिस्टरी आफ ऐन्शण्ट संस्कृत लिटरेचर" पृ० ५६७ से[3]

ऋग्वेद में जो प्रथम मन्त्र है उसमें अग्नि शब्द आया है। उसका उल्था सी. एच. टानी साहब एम. ए. प्रिन्सिपल प्रेसीडेन्सी कालिज कलकत्ता ने आग के अर्थ में अपने उस प्रथमोक्त ध्यान से किया है कि अग्नि भी एक पदार्थ प्रतिष्ठा का वेद में है, परन्तु अग्नि को तत्त्व मान कर किसी प्राचीन ऋषि मुनि ने पूजन वा आवाहन नहीं किया और अग्नि शब्द का जो स्वाभाविक अर्थ आग का है वह केवल उन वाक्यों में लिया जाता है जिनमें लौकिक सम्बन्धी बातें हैं परन्तु ऐसे वाक्यों में जहाँ ईश्वर की स्तुति प्रार्थना निवेदन आदि का प्रसंग होता है वहाँ अग्नि शब्द का अर्थ परमेश्वर का घटित किया जाता है। यह अर्थ कुछ मैंने मिथ्या कल्पित नहीं किया। इस प्रकार के युक्तार्थ ब्राह्मण और निरुक्त नामी ग्रन्थों में बराबर वर्णन हो आए हैं।

अन्त पर टानी साहब की जो यह सम्मति है कि मैंने जो भाष्य बनाया है वह इस कारण से रचा है कि सायण और अँगरेजी उल्थाकारों के भाष्य कट जावें अर्थात् अशुद्ध ठहरें, सो इस विषय में मैं कभी दूषित नहीं हो सकता हूँ। यदि सायण ने भूल की है और अँगरेजों ने उसको अपना मार्ग-प्रदर्शक जानकर अंगीकार कर लिया तो भले ही करें, परन्तु मैं जान बूझ कर कभी भूल का काम नहीं कर

के हैं, परन्तु पुराने व्याख्यान ग्रन्थों के अनुसार कि जो ठीक आर्य धर्म के विषयक हैं वे अनेक नाम देवता वा मनुष्य और वस्तुओं के नहीं ठहर सकते अर्थात् वे सब तीन देवताओं ही के नाम से सम्बन्ध रखते हैं और फिर वे तीनों नामों की देवता भी पृथक् २ नहीं हैं अर्थात् वे तीनों नाम एक ही परमेश्वर के हैं। निघण्टु अर्थात् वेदों के शब्दकोष के अन्त में तीन नामावली देवताओं की हैं। उनमें से पहिली में अग्नि के, दूसरी में वायु के, तीसरी में सूर्य के पर्यायवाची नाम है।

निरुक्त के अन्त भाग में जिसमें केवल देवताओं का वृत्तान्त है, यह दो बार कथन किया गया है कि देवता केवल तीन हैं (तिस्र एव देवताः) इनसे अधिकतर अनुमान सिद्धान्त यह निकलता है कि केवल एक ही देवता है। यह बात वेद के अनेक वाक्यों से भी सिद्ध होती है और यही आशय निरुक्त और वेद के प्रमाण के अनुसार अति सुगम और संक्षेप रीति से ऋग्वेद के सूची पत्र में वर्णन किया है। इससे यह निर्णय होता है कि आर्यों के पुराने धर्म मार्ग की पुस्तकें केवल एक ही ब्रह्म को गाती हैं और सूत्रों से भी ऐसा ही सिद्ध होता है।

१. वेदों से ज्ञात होता है कि आर्य ऋषियों का धर्म मार्ग केवल एक बड़े ब्रह्म के पूजन और श्रद्धा वा भक्ति में था जिस को वे सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ और सर्वव्यापक जानते थे और जिसके सम्बन्धी गुणों को वे अत्यन्त पूजनीय वाक्यों में प्रकट करते थे और वे सम्बन्धित गुण उसकी तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं। उनमें से प्रथम उत्पादक, दूसरी पालक, तीसरी संहारक नाम से वर्णन की जाती है।

२. इन अतिसत्य ध्यानों से हमें पूर्ण विश्वास होता है कि चारों वेद एक ब्रह्म को गाते हैं जो सर्वशक्तिमान् अनन्त चिरस्थायी स्वयंभूसंसार का द्योतक और पालक है। मैं इसके संग एक और ऋचा लिखता हूँ जिससे एक ही ब्रह्म निश्चित होता है। इस से हम आपकी शंका निवृत्ति करते हैं जानिये कि आर्य लोग स्वाभाविक बुद्धि से सदैव अद्वैत-सेवी अर्थात् केवल एक ईश्वर को ही मानते थे।

३. उसी उक्त ऋचा का एक चरण यह है जिससे निस्सन्देह केवल एक ही ब्रह्म का निरूपण होता है—यद्यपि हम उस को अनेक नाम से आवाहन करते हैं। ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १६४ की ४६ वीं ऋ५।१ को देखो स्पष्ट लिखा है कि उसी एक परब्रह्म को ज्ञानवान् इन्द्र मित्र वरुण और अग्नि के नाम से पुकारते हैं। कोई कहते हैं कि वह आकाश में सपक्ष गरुत्मान् है और कोई २ बुद्धिमान् उसी के अग्नि यम मातरिश्वा आदि अनेक नाम मानते हैं॥

सकता। परन्तु मिथ्या मत बहुत काल तक नहीं ठहर सकता, केवल सत्य ही ठहरता है और असत्य सत्यता के सन्मुख शीघ्र धुमैला हो जाता है। पण्डित गुरुप्रसाद हेड पण्डित ओरियंटल कालिज लाहौर ने यह बात कह कर कि स्वामी जी के भाष्य में कोई अशुद्धि छापे की कहे सो नहीं है, मेरे प्रत्येक आशय को दूषित ठहराया है। तथापि मैं उनको धन्यवाद देता हूँ। उनने मेरे भाष्य के छापने वाले का विश्वास माना, यह क्या थोड़ी बात है। परन्तु मैं कहता हूँ कि उसका भी दोष वे मेरा ही जानें, परन्तु थोड़ा मुँह खोल कर कहें तो कैफियत् खुले नहीं तो क्या जान पड़े। और जो वे मुझे दूसरे स्थल पर यह दोष लगाते हैं कि अपने ही पन्थ का प्रचार किया चाहता है सो मैं ऐसी बातों को सुन अति पश्चात्ताप से कहता और समझता हूँ कि वे वेद विद्या से नितान्त अजान हैं। यदि उन्होंने प्राचीन भाष्यों का अवलोकन किया होता तो कभी ऐसा न कहते।

और तीसरा कलंक जो वे मुझे यह लगाते हैं कि इन्द्र मित्र और त्वष्टा आदि शब्दों के अर्थ स्वामी जी ने अपनी ओर से गढ़े हैं सो उनकी इस शंका के उत्तर में मैं उनको वेदभाष्य के विज्ञापन[1] का प्रमाण देता हूँ और एक प्रति साथ ही इस उत्तर के ऐसी लगाये देता हूँ कि जिसमें उन शब्दों का यथावत् वर्णन है। फिर भी इन सब बातों के परिणाम में मुझे निस्सन्देह हो यही कहना पड़ता है कि उनमें पुरातन संस्कृत विद्या अत्यन्त ही कम है।

चौथा दोष जो वे मेरे व्याकरण में यह आरोपण करते हैं कि परस्मैपद के स्थान में आत्मनेपद लिखा है सो अब मैं इस बात का निश्चय कराने को कि स्वयं पण्डितजी व्याकरण का ज्ञान नहीं रखते कैयट [के भाष्यप्रदीप] और नागेश, रामाश्रम आचार्य, अनुभूतिस्वरूप आचार्य आदि के ग्रन्थों के कई एक प्रामाणिक उदाहरण पृथक् लिखता हूँ। वे मेरे विदधीमहि[2] के प्रयोग को सर्वथा युक्त समझते हैं। वदामहे[3] के शुद्ध प्रयोग के लिये मैंने पाणिनीय व्याकरण के प्रथमाध्याय के तीसरे पाद के ४७ वें सूत्र का प्रमाण दिया है। और उन स्थलों की नकल भी हूबहू उनको भेज सकता हूँ जिससे मेरा किया प्रयोग कैसा शुद्ध है यह प्रतीति यथेच्छ हो जावेगी। परन्तु विना व्याकरण बोध क्यों कर उनके समझ में आवे।

[सब प्रमाण मूल भाषा लेख के साथ नष्ट हो गए।]

पाँचवीं शंका उनको मेरे एक छन्द के प्रयोग पर उपस्थित हुई है। वह अत्यन्त हास्यजनक है। जो मैं उसका इस संक्षिप्त उत्तर में कुछ वर्णन करूँ तो असार विस्तार होगा। रहा उनका समाधान सो उनके लिये पैङ्गल सूत्र और उसके भाष्यकार हलायुधभट्ट का एक स्पष्ट प्रमाण पृथक् लिखता हूँ। देख शान्त होवें।

[वह प्रमाण मूल भाषा लेख के साथ ही नष्ट हो गया।]

ज्ञात होता है कि पण्डित हृषीकेश भट्टाचार्य द्वितीय पण्डित ओरयंटल कालिज लाहौर सर्वत्र पण्डित गुरुप्रसाद जी के ही अनुगामी हुए हैं। इससे उनकी शंकाओं का उत्तर वही समझना चाहिए जो पीछे लिख आए हैं। उपचक्रे[4] शब्द में उनकी शंका एक पृथक् है। सो उन्हें यह बात सुझाने को कि मेरा अर्थ बहुत

१. यह विज्ञापन 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' ग्रन्थ में पूर्णाङ्क २४ पर छपा है।

२. वेदानां यथार्थं भाष्यं वयं विदधीमहि—ऋग्वेदा० भा० भूमिका ईश्वरप्रार्थनाविषय, पृष्ठ ३, पं० २४ (रा. ला. क. ट्रस्ट संस्क०)।

३. एवं प्राप्ते वदामहे—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका वेदोत्पत्तिविषय, पृष्ठ १४, पं० २६ (रा. ला. क. ट्रस्ट संस्क०)।

४. यथा पिता स्वसन्तति..............सर्वमनुष्यार्थं वेदोपदेशमुपचक्रे। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका वेदोत्पत्तिविषय, पृष्ठ १६, पं० १५ (रा. ला. क. ट्रस्ट संस्क०)।

ही निर्मल है मैं उन्हें केवल पाणिनीय व्याकरण के प्रथमाध्याय के तीसरे पाद के ३० वें सूत्र का प्रमाण देता हूँ। उसको देख तुष्ट होवें।

अब रहे पण्डित भगवान दास असिस्टेण्ट प्रोफेसर संस्कृत गवर्नमेण्ट कालिज लाहौर। सो उनकी कोई नवीन शंका नहीं है। इसलिए जो मैंने ऊपर कहा वही बहुत है। वे भी तुष्ट होवें इति।

अन्त में मुझे प्रतीत होता है कि इन विरुद्ध लेखों का सारा बल देश के विद्यालयों में मेरे वेदभाष्य के लगाए जाने के विपरीत है। परन्तु मेरे आलोचक भारी भूल कर रहे हैं। मेरा वेदभाष्य महाभारत के पूर्व के भाष्यों के प्रमाणों को देने के कारण और योरोपीय विद्वानों के विचारों के विरुद्ध होने के कारण गवेषणा का एक ऐसा भाव उत्पन्न कर देगा कि जिससे सत्य प्रकट हो जायगा और हमारे विद्यालयों में सदाचार के भाव को उत्पन्न करेगा। और इसी कारण सरकार की संरक्षता का अधिकारी है॥

भ्रान्ति-निवारण

भूमिका

विदित हो कि जो मैंने संसार के उपकारार्थ वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ किया है, कि जो सब प्राचीन ऋषियों की की हुई व्याख्या और अन्य ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त बनाया जाता है, जिसमें इस बात की साक्षी वे सब ग्रन्थ आज पर्य्यन्त वर्त्तमान हैं। और मेरे बनाये मासिक अङ्कों[1] में भी विद्वानों के समझने के लिये संकेतमात्र जहाँ-तहाँ लिख दिये हैं, कि देखने वालों को सुगमता हो। और किसी प्रकार की भ्रान्ति वा शङ्का मेरे लेख पर होकर वृथा कुतर्क खड़ी करके कोई मनुष्य मेरे काल को न खोवे, कि जिससे देशभर की हानि हो और उस को भी कुछ लाभ न हो। परन्तु बहुधा संसार में यह उलटी रीति है कि लोग उत्तम कर्म कर चुके और करते हुये को देख कर ऐसे प्रसन्न नहीं होते जैसे कि निषिद्ध कर्म वा हानि को देख कर होते हैं।

जो मैं निरानिरी संसार ही का भय करता और सर्वज्ञ परमात्मा का कुछ भी नहीं, कि जिसके आधीन मनुष्य के जीवन मृत्यु और सुख दुःख हैं, तो मैं भी ऐसे ही अनर्थक वाद विवादों में मन देता। परन्तु क्या करूँ मैं तो अपना तन मन धन सब सत्य के ही प्रकाशार्थ समर्पण कर चुका। मुझ से खुशामद करके अब स्वार्थ का व्यवहार नहीं चल सकता, किन्तु संसार को लाभ पहुँचाना ही मुझ को चक्रवर्त्ती राज्य के तुल्य है।

मैं इस बात को प्रथम ही अच्छे प्रकार जानता था कि न्यारिये के समान बालू से सुवर्ण निकालने वाले चतुर कम होंगे, किन्तु मलीन मच्छी की नाईं निर्मल जल को गदला करने और बिगाड़ने वाले बहुत हैं। परन्तु मैंने इस धर्म-कार्य का सर्वशक्तिमान्, सत्यग्राहक और न्याय-सम्बन्धी परमात्मा के शरण में सीस धर के उसी के सहाय के अवलम्ब से आरम्भ किया है।

मैं यह भी जानता था कि इस ग्रन्थ के विषय में जो शङ्का होंगी तो कम विद्वान् और ईर्ष्या करने वालों को होंगी, परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि कोई विद्वान् भी इसी अन्धकार में फिसल पड़े, और इतना न हुआ कि आँख खोल कर अथवा लालटेन लेकर चलें कि जिसमें चाल चूकने पर हँसी और दु.ख न हो। यह पूर्व विचार करना बड़े विद्वान् अर्थात् दीर्घदृष्टि वाले का काम है नहीं तो गिरे को लज्जा का फिर क्या ही ठीक है।

इस वेदभाष्य के विषय में पहिले आर० ग्रिफिथ साहब, सी० एच० टानी और पण्डित गुरु प्रसाद आदि पुरुषों ने कहीं-कहीं अपनी सामर्थ्य के अनुसार पकड़ की थी, सो उनका उत्तर तो अच्छे प्रकार दे दिया गया था[2]। परन्तु अब पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न जो आफीशियेटिंग प्रिन्सिपल कलकत्ते में के संस्कृत कालिज के हैं, उन्होंने भी पूर्वोक्त विद्वान् पुरुषों का रंग पकड़ कर सन के छूछे गोले चलाये हैं।

---

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, ऋग्वेदभाष्य और यजुर्वेदभाष्य का प्रथम संस्करण मासिक अङ्कों में छपा था। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के एक दो अङ्क के पीछे ही ऋग्वेदभाष्य के नमूने का भी एक अङ्क छपा था। इस ग्रन्थ में इस नमूने के अङ्क और भूमिका के कुछ अङ्कों पर पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न ने जो आक्षेप किए उनका उत्तर इस पुस्तिका में दिया है। इस ग्रन्थ में सम्पूर्ण टिप्पणियाँ हमारी हैं। यु० मी०।

२. यह उत्तर हम पूर्व छाप चुके हैं। द्र० यही संग्रह पृष्ठ २६–२९।

इसलिये यद्यपि मेरा बहु अमूल्य समय ऐसे तुच्छ कामों में खर्च होना न चाहिये, परन्तु दो बातों की सिद्धि समझ कर संक्षेप से कुछ लेख करना आवश्यक जानता हूँ। एक तो यह कि ईश्वरकृत सत्यविद्या पुस्तक वेदों पर दोष न आवे कि उनमें अनेक परमेश्वर की पूजा पाई जाती है। और दूसरे यह कि आगे को मनुष्यों को प्रकट हो जाय कि ऐसी-ऐसी व्यर्थ कुतर्क फिर खड़ी करके मेरा काल न खोवें। क्योंकि इससे कई कठिन शङ्का तो मेरे बनाए ग्रन्थों ही के ठीक-ठीक मन लगाकर विचारने से ही निवारण हो सकती हैं, फिर निष्प्रयोजन मेरा सर्वहितकारी काल क्यों खोते हैं।

यह दोष इस देश में बहुत काल से पड़ा हुआ है। अर्थात् महाभारत के युद्ध में जब अच्छे-अच्छे पूर्ण विद्वान् वेद और शास्त्रादिक के जानने वाले चल बसे, विद्या का प्रचार तथा सत्य उपदेश की व्यवस्था छूट कर तमाम देश में नाना प्रकार के विघ्न और उपद्रव उठने लगे, लोगों ने अपना-अपना छप्पर अपने अपने हाथ से छाने की फिकर की, और इस थोड़े से सुख के लोभ में उत्तम-उत्तम विद्याओं को ऐसा हाथ से खो बैठे कि जिससे उनका विचारा हुआ लाभ भी नष्ट हो गया, और तमाम अपने देश को भी धर कर डुबा दिया। बड़े शोक की बात यह है कि आँखों से देखकर भी कूप में ही गिरना अच्छा समझ कर, अपनी अज्ञानता पर दुःखी और लज्जावान् होने की जगह भी बराबर हठ ही करते चले जाते हैं। इस का परिणाम न जाने क्या होना है।

दूसरा कारण आर्यों के बिगाड़ का यह भी है कि उनको जैन लोगों ने बहुत कुछ दबाया और सत्यग्रन्थों का नाश किया। फिर इन्हीं के समान मुसलमानों ने भी अपने धर्म का पक्ष करके दुःख दिया। और जब से अँग्रेजों ने इस देश में राज किया तो इन्होंने यह बात बहुत अच्छी की कि सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार करके प्रजा को समान दृष्टि से सुधारा। परन्तु कुछ-कुछ निज धर्म का पक्ष करते ही रहे। इसी से लोगों का उत्साह भी कमती होता गया। और आज तक वेदों का प्रचार और सत्य उपदेश का प्रबन्ध ठीक-ठीक होता, तो किसी को शङ्का भ्रान्ति और हठ वेद के विरुद्ध नवीन कल्पित मत-मतान्तर का न होता, जैसा कि पण्डित महेशचन्द्र का गुमान है। यह केवल उनका वेदों से विमुख होने का कारण है। इसलिये उनकी भ्रान्ति-निवारण विषय में कुछ लिखा जाता है।

[दयानन्द सरस्वती]

❀ ओ३म् ❀

भ्रान्ति-निवारण

अर्थात्

पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्नकृत वेदभाष्यपरत्व प्रश्नपुस्तक का पण्डित स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी की ओर से उत्तर[1]

पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्नजी ने विरुद्ध पण्डितों के साथ में अपनी राय दी है, तो उन्हीं के उत्तर में इनका भी उत्तर मेरी ओर से जान लेना।

पं० महेश०—पण्डित दयानन्द सरस्वतीजी के परिश्रम, विद्या और पण्डिताई निस्सन्देह प्रशंसा योग्य हैं, परन्तु उनका कुछ फल मालूम नहीं देता।

स्वामीजी—सम्मति देने वालों की निर्पक्षता और न्याय तो उनके कथन से ही प्रत्यक्ष है कि जिस को छोटे विद्वान् लड़के भी जान लेंगे। क्योंकि पण्डितजी लिखते हैं कि "स्वामीजी सब तरह विद्या आदि पूर्ण गुणयुक्त होने से प्रशंसायोग्य हैं, परन्तु कुछ फलदायक नहीं"। तो उनका यह कथन पूर्वापर विरोधी है, और इसमें उनका हठ वा वेदविद्या से विमुखता साबित होती है।

पं० महेश०—स्वामीजी का यह गुमान वा अभिप्राय है कि वेद में एक परमेश्वर की पूजा ठीक है, तथा सब संसारी विद्या और वर्त्तमानकाल की कलाकौशलादि पदार्थ विद्या वेदों से ही निकली है। इत्यादि बातें उनका काम मट्टी कर देती हैं।

स्वामीजी—इस बात का उत्तर मैं ग्रिफिथ साहब के उत्तर में दे चुका हूँ।[2] जब पण्डितजी के विचार से वेदों में एक परमेश्वर की उपासना नहीं है, तो उनको उचित था वा अब भी चाहिये कि कोई मन्त्र वेदों में से लिख कर यह बात सिद्ध कर दें कि वेदों में अनेक परमेश्वरों का होना सिद्ध है। क्योंकि उन्होंने वेदमन्त्रों में से कोई प्रमाण अपने पक्ष की पुष्टि के लिये नहीं लिखा, इससे इनके मन का अभिप्राय खुल गया, और उनकी विद्या की थाह मिल गई कि उन्होंने जो अटकलपच्चू कूपमण्डूक[3] के समान चतुराई दिखलाई है, ये सब किसी ईर्ष्यक, स्वार्थी, विद्याहीन और पक्षपाती मनुष्य के फुसलाने से वा अपनी ही

---

१. इस ग्रन्थ में उद्धृत उद्धरणों में से अधिकांश उद्धरणों के पते शताब्दी संस्करण भाग २ में छपे संस्करण में दिए गए हैं, परन्तु उत्तरवर्ती संस्करणों में वे पुनः लुप्त हो गए। हमने उन उद्धरणों के भी पते देने का प्रयत्न किया है जिनके शताब्दी संस्करण में नहीं दिए गए।

यह भी ध्यान रहे कि वै० य० मुद्रित पाठ अनेक स्थानों पर भ्रष्ट है। हमने प्रथम संस्करण, जो शाहजहाँपुर से सं० १९३४ में लीथो पर छपा था के अनुसार इसे शोधा है।

२. यह लेख हम पूर्व छाप चुके हैं। द्रष्टव्य पृ० २६-२९। यु० मी०

३. सब संस्करणों में 'कूप शब्द के' पाठ है जो अर्थ रहित है। यहाँ 'कूप मण्डूक के' पाठ प्रकरणानुसार चाहिए।

थोड़ी सामग्री अर्थात् हलदी की गांठ[1] के बल से लिखकर बैठ रहे, कि जिसमें वृथा कीर्त्ति देश में हो जावे।

सो पण्डितजी यह न समझें कि भारतवर्ष में विद्वान् नहीं रहे। यह व्याघ्र की खाल किसी दिन उधड़ कर सब कलई खुल जावेगी। और मैं तो अपनी थोड़ीसी विद्या और बुद्धि के अनुसार जो कुछ लिखूंगा वह सबको मालूम होता जावेगा, और जितना कर चुका वह जान लिया होगा। और कदाचित् पण्डितजी ने भी समझ लिया होगा, परन्तु मूक के समान संसारी और कल्पित भय से कन्द का स्वाद जान कर यथार्थ और निर्पक्षता से कह और मान नहीं सकते हैं।

परमात्मा की कृपा से मेरा शरीर बना रहा और कुशलता से वह दिन देख मिला कि वेदभाष्य सम्पूर्ण हो जावे तो निस्सन्देह इस आर्य्यावर्त्त देश में सूर्य्य का सा प्रकाश हो जावेगा कि जिस के मेटने और झाँपने[2] को किसी का सामर्थ्य न होगा। क्योंकि सत्य का मूल ऐसा नहीं कि जिसको कोई सुगमता से उखाड़ सके। और कभी भानु के समान ग्रहण में भी आजावे, तो थोड़े ही काल में फिर उग्र[3] अर्थात् निर्मल हो जावेगा।

पं॰ महेश॰—स्वामीजी हिन्दुओं के धर्मप्रचारी ग्रन्थों को नहीं मानते कि जिनमें कर्मकाण्ड और होमादिक का विधान है, किन्तु केवल वेदों ही की तरफ खिंचते हैं। इससे मेरी समझ से तो उनको यही उचित है कि वेदों को भी एक तरफ डाल कर अपनी युक्ति और बुद्धि ही के अनुसार बर्ताव बर्त्तें।

स्वामीजी—इस जगह पण्डितजी की और भी बढ़कर भूल साबित होती है, तथा जाना जाता है कि उन्होंने प्राचीन सत्य ग्रन्थ कभी देखे भी न हों। और कल्पना किया कि देखे हों तो केवल दर्शनमात्र किया हो, नहीं तो खाली तुकें न मिलाते। अब कोई साहब पण्डितजी से पूछें कि उन्होंने हिन्दू शब्द कौन से ग्रन्थ[4] में देखा है, कि जिस के अर्थ गुलाम वा काफिर आदि के हैं, और जो कि आर्य्यावर्त्तियों को कलंकरूप नाम यवनादिक की ओर से है। और आर्य्य शब्द जिस के अर्थ श्रेष्ठ के हैं, वह वेदों में अनेक ठिकाने मिलता है। सो पण्डितजी नौका में धूर[5] उड़ाते हैं। सो कब हो सकता है? और भूषण को दूषण करके मानते हैं, तो माना करो, परन्तु विद्वानों और पूर्ण पण्डितों की ऐसी उलटी रीति निज धर्मशास्त्र के विरुद्ध कभी नहीं होगी।

आगे वे लिखते हैं कि 'स्वामीजी धर्मप्रचारी ग्रन्थों को ही नहीं मानते हैं कि जिनमें कर्मकाण्ड का विधान है।' तो यह बड़े तमाशे की बात है कि न तो पण्डितजी ने कभी मुझ से मिल कर चिरकाल विचार किया, और न उन्होंने मेरे बनाये हुये ग्रन्थ देखे[6], किन्तु प्रथम ही मेरे मानने न मानने के विषय में अपना सिद्धान्त कर[7] बैठे। तो यह वही बात हुई कि सोवें झोंपड़े में और स्वप्न देखें राजमहलों का। क्योंकि मैं अपने निश्चय और परीक्षा के अनुसार ऋग्वेद से लेके पूर्वमीमांसा पर्य्यन्त अनुमान से तीन हजार ग्रन्थों के लगभग मानता हूँ।[8]

---

१. तुलनीय 'हलदी की गाँठ पाके ऊन्दरो (चूहा) पंसारी बण बैठ्यो' मारवाड़ी कहावत। यु॰ मी॰

२. अर्थात् ढाँपने। यु॰ मी॰

३. 'उग्रह' अपपाठ है।

४. यहाँ संस्कृत ग्रन्थों से अभिप्राय है।

५. अर्थात् धूलि।

६. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि में सर्वत्र श्रौत गृह्य आदि कर्मकाण्ड के ग्रन्थों को स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, भूमिका ग्रन्थ के प्रतिज्ञाविषय में वेद के कर्मकाण्डानुसारी याज्ञिक अर्थ को भी स्वीकार किया है।

७. अर्थात् बना बैठे।

८. जिस व्यक्ति ने परीक्षा करके तीन हजार ग्रन्थों को प्रामाणिक रूप में चुना उसने कितने सहस्र ग्रन्थों का अध्ययन किया होगा, यह अनुमान सहज में ही लगाया जा सकता है।

तथा कर्मकाण्ड के विषय में यह उत्तर है कि मेरा मत वेद पर है। इसलिये जो-जो कर्मकाण्ड वेदानुकूल है, उस सबको मानता हूँ, उससे विरुद्ध को नहीं। क्योंकि वे ग्रन्थ मनुष्यों ने अपने स्वार्थसाधन के निमित्त रच लिये हैं। वे वेद युक्ति वा प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकते। जो जो संस्कार आदि मैं मानता हूं वे सब मेरी बनाई हुई वेदभूमिका अङ्क ३ (तीन)[1] में तथा संस्कारविधि आदि ग्रन्थों में देखना चाहिये।

और वे लिखते हैं कि 'वेदों को भी एक तरफ धर दें केवल अपनी युक्ति वा बुद्धि ही के आधारी रहें', तो उत्तर यह है कि मैं वेदों में कोई बात युक्तिविरुद्ध वा दोष की नहीं देखता, और उन्हीं पर मेरा मत है। सो यह सब भेद मेरे वेदभाष्य में खुलता जायगा। और विद्वानों का यह काम नहीं कि किसी हेतु से सत्य को त्याग के असत्य का ग्रहण करें।

पं० महेश०—हिन्दुओं का विश्वास है कि देववाणी का प्रकाश परमेश्वर की ओर से वेद पुस्तकों के रूप से हुआ है, वा ऋषियों के द्वारा प्रेरणा की गई है, परन्तु मेरी समझ से तो दोनों प्रकार ठीक नहीं हो सकता।

स्वामीजी—इस बात का उत्तर वेदभाष्य की भूमिका अङ्क १ प्रथम 'वेदोत्पत्तिप्रकरण'[2] में देख लेना चाहिये। परन्तु इतना यहाँ भी मैं कहता हूँ कि आर्य्य लोग सनातन से युक्तिप्रमाण सहित वेदों को परमेश्वरकृत मानते बराबर चले आये हैं। इसका ठीक-ठीक विचार आर्य्य लोग ही कर सकते हैं, हिन्दू विचारों का क्या ही सामर्थ्य है।

पं० महेश०—वेद इस विषय में स्वतः प्रमाण हैं कि उनमें बहुधा होम बलिदान आदि का विधान है। तथा इसका प्रमाण अन्य ग्रन्थों में भी पाया जाता है कि जिनको स्वामीजी भी मानते हैं। इसलिये वे वेदमत को स्वीकार करके होमादिक से अलग नहीं बच सकते हैं, सिवाय ऐसे मनुष्य के कि जो स्वामीजी की तरह अपनी नवीन रीति से मन्त्रभाष्य की रचना करे। देखना चाहिये कि यह स्वामीजी का परिश्रम कैसा वृथा समझा जा सकता है कि जब मैं उनके भाष्य की परीक्षा करूँगा।

स्वामीजी—वेदों में जो यज्ञादिक करने की आज्ञा है, उस सबको प्रमाण और युक्ति सिद्ध होने के कारण मैं मानता हूँ, और सबको अवश्य मानना चाहिये, जैसे कि वेदभूमिका अङ्क ३ के 'यज्ञप्रकरण'[3] में लिख दिया है। उससे विरुद्ध जो बलिदान आदि आजकल के लोगों ने समझ रक्खा है, यह सब वेदविरुद्ध है। और मेरा भाष्य तो नवीन रीति का नहीं ठहर सकता, क्योंकि वह प्राचीन सत्य ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त बनता है। परन्तु पण्डितजी का जो कथन है, सो केवल अप्रमाण है, और पण्डितजी ने मन के ही गुलगुले खाये हैं। आगे मेरे ग्रन्थ की परीक्षा तो तमाम देशभर को हो ही जावेगी, परन्तु पण्डित-जी की विद्या तो अभी तुल गई।

पं० महेश०—स्वामीजी का मन्त्रभाष्य ही अद्भुत नहीं है, किन्तु उनके लिखने की रीति और व्याकरण भी पण्डितों के आगे हंसी के कराने वाले हैं। तथा कई अशुद्धियाँ जो उनके परीक्षकों ने निकाली हैं, वे इस बात को साफ-साफ सिद्ध करती हैं कि स्वामीजी सत्य का प्रकाश तो नहीं करते किन्तु अपनी कीर्त्ति और नाम की प्रसिद्धि अवश्य चाहते हैं। जैसे कि वे 'उपचक्रे' शब्द को पाणिनि के 'गन्धनावक्षे०'[4] सूत्र से सिद्ध करते हैं, यह कभी नहीं हो सकता। यह बात मानी जा सकती है कि 'उपचक्रे' में आत्मनेपद लाया गया है साफ कहने के अर्थ में। परन्तु 'उप कृञ्' से यह अर्थ नहीं निकल सकता है, और स्वामीजी का यह अभिप्राय है। क्योंकि वे उसका भाषा में अर्थ करते हैं कि 'किया है'।

१. रा. ला. क. ट्र. संस्क० पृष्ठ ५३—७३।
२. रा. ला. क. ट्र. संस्क० पृष्ठ १०—३०।
३. रा. ला. क. ट्र. संस्क० पृष्ठ ५३—७३।
४. अष्टा० १।३।३२॥

स्वामीजी—इनका उत्तर मैं पण्डित गुरुप्रसाद आदि के 'तर्कखण्डन' के साथ दे चुका हूँ,[1] और पण्डितजी ने कुछ उनसे विशेष पकड़ नहीं की है।[2]

भाषार्थ में जो शब्द 'किया है' छापा गया, तो इसका कारण यह है कि भाषा में संस्कृत का अभिप्रायमात्र लिखा है, केवल शब्दार्थ ही नहीं। क्योंकि भाषा करने का तो केवल यही तात्पर्य है कि जिन लोगों को संस्कृत का बोध नहीं है, उनको बिना भाषार्थ के यथार्थ वेदज्ञान नहीं हो सकेगा। इसलिये भला यह कोई बात है कि ऐसी तुच्छ बातों में दोष पैदा करना, जो कि विद्वानों के विचार से दूर हैं। और 'उप, कृञ्' धातु का अर्थ है 'उपकार और किया'। ये दोनों अर्थ भी भूतकाल की क्रिया को बतलाते हैं कि ईश्वर ने जीवों के हित के लिये वेदों का उपदेश किया है और ठीक-ठीक घट सकता है। परन्तु इस बात का भेद सिवाय अन्तर्यामी परमेश्वर के जीव नहीं जान सकता कि मैं लोकहित चाहता हूं वा केवल विजय, अर्थात् नाम की प्रसिद्धि।

पं० महेश०—खैर ये तो साधारण बातें थीं, परन्तु अब मैं भारी-भारी दोषों पर आता हूँ। मन्त्र-भाष्य[3] के प्रथम संस्कृतखण्ड में 'अग्निमीडे पुरोहितम्'[4] इस के भाष्य में स्वामीजी ने अग्नि शब्द से ईश्वर का ग्रहण किया है, जब कि प्रसिद्ध अर्थ अग्नि शब्द के सिवाय आग के दूसरे कोई नहीं ले सकता। तथा सायणाचार्य वेद के भाष्यकार की इसी विषय में साक्षी वर्त्तमान है।

स्वामीजी अपने पक्ष में शतपथ ब्राह्मण और निरुक्त आदि को प्रमाण मानते हैं, परन्तु क्या ये भाष्य आदि अग्नि शब्द से परमेश्वर के अर्थ की पुष्टि कर सकते हैं, अर्थात् कभी नहीं। क्योंकि जो-जो शब्द उन में ईश्वरार्थ में लिखे हैं, उन में अग्नि शब्द का नाम भी नहीं है। फिर स्वामीजी इसी पक्ष में ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण धरते हैं कि—"अग्निर्वै सर्वा देवताः॥ ऐ० १। पं० १॥" जिस का यहाँ कुछ सम्बन्ध नहीं है, किन्तु दीक्षास्थिति यज्ञ में लग सकता है। मैं यह आगे का वाक्य डाक्टर एम० हाग साहब के टीका सहित लिखता हूँ।

स्वामीजी—अब पण्डितजी की ऐसी पकड़ से मालूम हो गया कि उन को संस्कृत ग्रन्थ समझने का बहुत ही बोध है, और विद्वानों को चाहिये कि पण्डितजी की खातर से मान भी लें कि वेदविद्या के बड़े प्रवीण हैं। सत्य तो यह है कि उन्होंने प्राचीन ऋषि मुनियों के ग्रन्थ कभी नहीं देखे, और उनको ठीक ठीक अर्थ समझने का बिलकुल ज्ञान नहीं। क्योंकि जिन जिन ग्रन्थों अर्थात् वेद, शतपथ और निरुक्त

१. द्रष्टव्य पूर्वत्र पृष्ठ २८।

२. इससे आगे वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'परन्तु.........की प्रसिद्धि।' पाठ छपा मिलता है। यह अस्थान में है। इस ग्रन्थ का जो सर्व प्रथम संस्करण शाहजहाँपुर से लीथो प्रेस में छपा था उसमें "नहीं की है[2] परन्तु इस...... प्रसिद्धि[2]। [1]भाषार्थ में ....घट सकता है[1]।" इस प्रकार पाठ को आगे पीछे पढ़ने के लिए (जो लेखक प्रमाद से अस्थान में लिखा जा चुका था) २ तथा १ के संकेत दिए थे। परन्तु उत्तरवर्ती संस्करण के संशोधक के अज्ञान के कारण अर्थात् संख्या देने का कारण न समझने के कारण यह पाठ पूर्ववत् अस्थान में छप गया। तदनुसार ही अगले संस्करणों में भी छपता चला आ रहा है। ऐसी ही एक भयङ्कर अशुद्धि यजुर्वेदभाष्य अ० १ मं० ५ के अन्वय में हस्तलेख में पाठ को आगे पीछे करने के लिए लगाये गए २.२ १.१ संख्या संकेतों को न समझने के कारण हुई और आज तक यह पाठ वै० य० मुद्रित में अस्थान में छप रहा है। इसके लिए देखिए रा. ला. क. ट्रस्ट का संस्करण पृष्ठ ४९ पर टिप्पणी।

३. यह संकेत ऋषि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित वेदभाष्य के नमूने के अङ्क की ओर है। यह लाजरसप्रेस काशी से सं० १९३३ में छपा था।

४. ऋ० १।१।१॥

आदियों के प्रमाण मैंने वेदभाष्य में लिखे हैं, उन को ठीक ठीक विचारने से आयने[१] के समान जान पड़ता है कि 'अग्नि' शब्द से 'आग' और 'ईश्वर' दोनों का ग्रहण है। जैसे देखो कि—

१—'इन्द्रं मित्रं वरुण०[२] ॥' २—'तदेवाग्निस्तदादित्य०[३] ॥' ३—'अग्निर्होता कवि० ॥'[४], ४—'ब्रह्म ह्यग्निः[५] ॥' ५—'आत्मा वा अग्निः[६] ॥'

देखिये विद्यानेत्र से इन पाँच प्रमाणों में 'अग्नि' शब्द से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है।

'अयं वा अग्निः प्रजाश्च प्रजापतिश्च[७] ॥' और इस प्रमाण में प्रजा शब्द से भौतिक अग्नि और प्रजापति शब्द से परमेश्वर लिया जाता है। इसी प्रकार 'संवत्सरोऽग्निः[८] ॥' इत्यादि प्रमाणों में 'अग्नि' शब्द से ठीक ठीक परमेश्वर का ग्रहण होता है।

तथा 'अग्निर्वै सर्वा देवताः[९] ॥' इस वचन में भी परमेश्वर और सांसारिक अग्नि का ग्रहण होता है। क्योंकि जहाँ उपास्य उपासक प्रकरण में सर्व देवता शब्द से अग्निसंज्ञक परमेश्वर का ग्रहण होता है, इस में मनु का प्रमाण दिया है।[१०] क्योंकि—'यत्रोपास्यत्वेन सर्वा देवतेत्युच्यते तत्र ब्रह्मात्मैव ग्राह्यः[११] ॥' जो वे इस पङ्क्ति का अभिप्राय समझते तो उनको अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण में कभी भ्रम न होता।

तथा निरुक्त से भी परमेश्वर और भौतिक इन दोनों का यथावत् ग्रहण होता है। देखो एक तो 'अग्रणीः'[१२] इस शब्द से उत्तम परमेश्वर ही माना जाता है,[१३] इस में कुछ सन्देह नहीं। और दूसरा हेतु यह है कि 'इतात्' इस शब्द से अग्नि नाम ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ही का ग्रहण हो सकता है। क्योंकि 'इण् गतौ' इस धातु से यहाँ ज्ञानार्थ ही[१४] अभिप्रेत है। 'दग्धात्' इस पद से केवल भौतिक अग्नि लिया जायगा, परमेश्वर नहीं। तथा 'अक्तात्' और 'नीतात्' इन दोनों से परमेश्वर और भौतिक दोनों लिये जाते हैं। क्योंकि 'इण्' धातु से ऋषि का प्राप्ति और गमन अर्थ ही लेने का अभिप्राय होता, तो 'अक्तात्, दग्धात्, नीतात्' ऐसे शब्दों का ग्रहण नहीं करते।

तथा जो 'अग्नि' शब्द से धात्वर्थ[१५] ग्रहण में यास्कमुनि का अभिप्राय नहीं होता, तो पृथक् पृथक् धातुओं को नहीं गिनते। और 'अग्निर्वै सर्वा देवताः इति······निर्वचनाय'[१६] इस वचन का अर्थ निरुक्तकार

---

१. अर्थात् दर्पण। २. ऋ० १ । १६४ । ४६ ॥ ३. यजु० ३२ । १ ॥
४. ऋ० १ । १ । ५ ॥ ५. शत० १ । ५ । १ । ११ ॥ ६. शत० ७ । ३ । १ । २ ॥
७. शत० ९ । १ । २ । ४२ ॥ ८. शत० ६ । ३ । १ । २५ ॥ ९. ऐत० १ । १ ॥ शत० १ । ६ । २ । ८

१०. यह संकेत ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत मनु के 'आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्' (१२ । ११९) वचन की ओर है।

११. यह पंक्ति ग्रन्थकार की है जो वेदभाष्य के नमूने के अङ्क में वर्णित 'अग्निर्वै सर्वा देवताः' के आगे पढ़ी हुई है।

१२. यह पद तथा अगले पद ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत 'अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति' निरुक्त ७ । १४ के पाठ के हैं।

१३. 'अग्रणीः' निर्वचन से अग्निशब्द से परमेश्वर का ग्रहण होता है, इसमें आचार्य शंकर का भी प्रमाण है। वे लिखते हैं—'अग्निशब्दोऽप्यग्रणीत्वादियोगाश्रयेण परमात्मविषय एव भविष्यति।' द्र० वेदान्तभाष्य १ । २ । २८ ॥

१४. 'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः' इस वैयाकरण-नियम से।

१५. पाश्चात्य मतानुयायी निरुक्त के निर्वचनों का प्रयोजन धातुनिर्देश मानते हैं और उसी के अनुसार यास्क के लगभग १२०० निर्वचनों में से लगभग ९०० निर्वचनों को अशुद्ध बताते हैं। डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने 'इटिमोलोजी आफ् यास्क' में और डा० वेल्वेल्कर ने निरुक्त की भूमिका वा टिप्पणी में यास्क के निर्वचनों को वेहूदा और यास्क को प्रमादी आदि कहा है। वस्तुतः निरुक्त का प्रयोजन शब्द निर्वचन नहीं है वह तो व्याकरण का क्षेत्र है। यास्क का क्षेत्र अर्थ-निर्वचन है। दुर्गादि समस्त प्राचीन नैरुक्त 'निरुक्तम् अर्थनिर्वचनशास्त्रम्' ऐसा कहते हैं। इसी प्राचीन मत की दृष्टि से ऋषि दयानन्द ने भी 'धात्वर्थ ग्रहण' शब्दों का प्रयोग किया है। इसी ग्रन्थ में आगे ऋषि दयानन्द ने स्पष्ट लिखा है कि 'धात्वर्थ के निर्देश से अर्थ प्रतीति कराई है। क्योंकि शब्दों का साधुत्व व्याकरण का ही विषय है, निरुक्त का नहीं।

१६. निरुक्त ७ । १७ ॥

करते हैं कि जिसको बुद्धिमान् लोग अनेक नामों से वर्णन करते हैं, जो कि एक अद्वितीय सबसे बड़ा सब का आत्मा है, उसी को 'अग्नि' कहते हैं।[1]

'उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ॥'[2] इस वचन में अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों का ग्रहण होता है। क्योंकि इस अग्नि नामधेय से दोनों उत्तर ज्योति अर्थात् अनन्त ज्ञान प्रकाशयुक्त परमेश्वर जो कि प्रलय के उत्तर सब से सूक्ष्म तथा आधार है, उसका,[3] और जो विद्युत्रूप गुण वाला सबसे सूक्ष्म स्थूल पदार्थों में प्रकाशित और प्रकाश करने वाला भौतिक अग्नि है, इन दोनों का यथावत् ग्रहण होता है।

इसी प्रकार 'अग्निः पवित्रमुच्यते'[4] इत्यादि में भी अग्नि शब्द से दोनों ही को लेना होता है। तथा 'प्रशासितारं०'[5] जो सबको शिक्षा करने वाला, सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म, स्वप्रकाशस्वरूप, समाधियोग से जानने योग्य परपुरुष परमात्मा है, विद्वान् उसी को परमेश्वर जाने। फिर 'एतमेके वदन्त्यग्निं०'[6] विद्वान् लोग अग्नि आदि नामों करके एक परमेश्वर को ही कहते हैं।

ऊपर के सब प्रमाण अग्नि अर्थात् परमेश्वर में प्राचीन सत्यग्रन्थों की साक्षी से ठीक ठीक घटते हैं, परन्तु जो पण्डितजी के घर के निराले ग्रन्थ हैं, उनमें न होगा। और कदाचित् वे कहें कि निघण्टु में जो ईश्वर के नाम हैं उनमें अग्नि शब्द नहीं आता, इससे मालूम हुआ कि अग्नि परमेश्वर का वाची नहीं, तो समझना चाहिये कि जैसे-निघण्टु के अ० २। खं० २२। में जो 'राष्ट्री, अर्य्यः, नियुत्वान्, इनः' ये चार ईश्वर के अप्रसिद्ध नाम हैं, और यह नहीं हो सकता कि जो नाम ईश्वर के निघण्टु में हों वे ही माने जायँ, औरों को विद्वान् लोग छोड़ देवें। परमेश्वर के तो असंख्यात नाम हैं, और आप क्या चार ही नाम ईश्वर के समझते ? और क्या निघण्टु में न लिखने से ब्रह्म, परमात्मा आदि ईश्वर के नाम नहीं हैं ? यह पण्डितजी की बिलकुल भूल है। जैसे ब्रह्म आदि ईश्वर के नाम निघण्टु के विना लिखे भी लिये जाते हैं, वैसे अग्नि आदि भी परमेश्वर के नाम हैं। इस पूर्वपक्ष में जो कुछ अवश्य[7] था संक्षेप से लिख दिया। यह बात वेदभाष्य के अङ्क[8] में विस्तार पूर्वक सिद्ध कर दी है, वहां देख लेना।

पण्डितजी आर० ग्रिफिथ साहब और सी० एच० टानी साहबों के पीछे-पीछे चलते हैं। सो इसका कारण यह है कि पण्डितजी ने महीधरादि की अशुद्ध टीका देख ली है और उक्त साहबों ने प्रोफेसर विलसन आदि के उन्हीं अशुद्ध भाष्यों के उलथे अंग्रेजी में देख लिये होंगे। उनसे क्या हो सकता है। जब तक सत्य ग्रन्थों और मूलमन्त्रों को न देखें समझें, तब तक वेदमन्त्रों का अभिप्राय ठीक-ठीक जान लेना लड़कों का खिलौना नहीं है। इसी के समान पण्डितजी का और कथन भी है, इसलिये अब दूसरी बात का उत्तर लिखते हैं—

'अग्निर्वै सर्वा देवताः देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः'[9] इत्यादि पर जो पण्डितजी ने लिखा है, सो भी अयुक्त है। क्योंकि वेदमन्त्रादि प्रमाणों को छोड़ कर 'अग्निर्वै सर्वा०' इस पद पर लिखने

---

१. निरुक्तकार ने उक्त वचन के आगे 'इन्द्रं मित्रं' (ऋ० १। १६४। ४६) को उद्धृत करके यह अभिप्राय दर्शाया है। २. निरुक्त ७। १८॥

३. यद्यपि अधिदैविक पक्ष में 'उत्तरे' पद से सूर्य और विद्युत् (=इन्द्र) का संकेत है। तथापि निरुक्त अ० १३-१४ की अति स्तुति अर्थात् अध्यात्म पक्ष में परमेश्वर का ही ग्रहण होता है।

४. निरुक्त ५। ६॥ ५. मनु० १२। १२२॥ ६. मनु० १२। १२३॥

७. अर्थात् 'पूर्वपक्ष के उत्तर में आवश्यक था'।

८. पृष्ठ १-२। इस संग्रह में पृष्ठ ३-४ ९. ऐत० १। १॥

से मालूम होता है कि पण्डितजी ने भाष्य की परीक्षा तो न की किन्तु छल अवश्य किया है। सो भी पण्डितजी ने इस वाक्य को तो लिखा परन्तु उसके अभिप्राय को यथार्थ नहीं जाना। क्योंकि इसका अभिप्राय यह है कि—सब कर्मकाण्ड के अग्निहोत्रादि अश्वमेध पर्य्यन्त होम क्रिया में अग्नि मन्त्र प्रथम और विष्णु मन्त्र का पश्चात् उच्चारण करते हैं। जहाँ कहीं व्यावहारिक ३३ देव गिनाये हैं, वहाँ भी अग्नि प्रथम और विष्णु अन्त में गिनाया है। तथा "अग्निर्देवता०"[1] इस मन्त्र में भी अग्नि का प्रथम वरुण[2] का अन्त में ग्रहण किया है। सो ऐतरेय ब्राह्मण के पं० १, अ० २, कं० १० में लिखा है कि—'त्रयस्त्रिंशद् वै देवा अष्टौ वसव' इत्यादि।

तथा शतपथ ब्राह्मण में भी इसी बात की व्याख्या [लिखी है] वेदभाष्य की भूमिका के अङ्क ३ के पृष्ठ ५९ की पंक्ति ३१[3] में देवता शब्द से किस-किस को किस-किस गुण से ग्रहण करना लिखा है, वहाँ देख लेना। तथा उसी अङ्क ३ के पृष्ठ ६६ पंक्ति ७[4] में अग्नि से आरम्भ करके प्रजापति यज्ञ अर्थात् विष्णु में गिनती पूर्ण कर दी है। इसलिये 'अग्निर्वै०' इस वचन में अग्नि को प्रथम और विष्णु को अन्त में गिना है। सो पूर्व लिखित ग्रन्थ में देखने से सब शंका निवारण हो जायगी। तथा उक्त साहब लोगों और पण्डितजी की यह भी शंका निवृत्त हो जावेगी कि वेदों में एक के सिवाय दूसरा ईश्वर कोई भी नहीं है, किन्तु जिस-जिस हेतु से जिस-जिस पदार्थ का नाम देव धरा है, उस-उस को वहाँ अर्थात् अङ्क ३ में देख लेना।[5]

और डाक्टर एम० [हाग] साहब की अशुद्ध टीका[6] का जो हवाला देते हैं, तो यह पण्डितजी को एक लज्जा की बात है कि प्राचीन सत्य संस्कृत ग्रन्थों को छोड़ कर इधर-उधर कस्तूरिये हिरन के समान भूलते और भटकते हैं। डाक्टर एम० साहब वा सी० एच० टानी साहब वा आर० ग्रिफिथ साहब आदि कुछ ईश्वर नहीं कि जो कुछ वे लिख चुके, वह विना परीक्षा वा विचार के मान लेने योग्य ठहरे। क्या डाक्टर एम० हाग साहब हमारे आर्य्य ऋषि मुनियों से बढ़कर हैं ? कि जिनको हम सर्वोपरि मान निश्चय कर लें, और प्राचीन सत्य ग्रन्थों को छोड़ देवें, जैसा कि पण्डितजी ने किया है। जो उन्होंने ऐसा किया तो किया करो, मेरी दृष्टि में तो वे जो कुछ हैं सो ही हैं।

तथा इस कण्डिका[7] में भी 'यज्ञस्यान्ते' वचन में आदि में अग्निमन्त्र और अन्त में विष्णुमन्त्र का प्रयोग किया जाता है, फिर इन दोनों के बीच में व्यवहार के सब मन्त्र देवते गिने हैं, अग्नि को प्रथम [इस कारण माना है कि] जिन-जिन द्रव्यों का वायु और वृष्टि जल की शुद्धि के लिये अग्नि में होम किया जाता है, वे सब परमाणुरूप होकर विष्णु अर्थात् सूर्य के आकर्षण से वायु द्वारा आकाश में चढ़ जाते हैं। फिर मेघमण्डल में जलवृष्टि के साथ उतर कर बाकी जो बीच में ३० देव गिना दिये हैं, उन सभों को लाभ पहुँचाते हैं। इस अभिप्राय को पण्डितजी नहीं समझते हैं।

पं० महेश०—अब ऊपर के वचन से साफ जाना जा सकता है कि वेद में एक परमेश्वर की पूजा नहीं, किन्तु निस्सन्देह देवता विधान पाया जाता है। और उन देवताओं को बलिदान आदि पदार्थों

---

१. यजु० १४। २०॥

२. प्रथम संस्करण में 'वरुण' पाठ ही है। मन्त्र में भी 'वरुण' पद ही अन्त में है। उत्तरवर्ती संस्करणों में 'वरुण' के स्थान पर 'विष्णु' पाठ मिलता है, वह अपपाठ है।

३. रा. ला. क. ट्र. संस्क० पृष्ठ ६७। ४. रा. ला. क. ट्र. संस्क० पृष्ठ ७३॥

५. अङ्क में पृष्ठ ५९–७१ तक। रा. ला. क. ट्र. सं० में पृष्ठ ६७–७९ तक।

६. यह ऐतरेय ब्राह्मण का अंग्रेजी अनुवाद है।

७. ऐत० १। १॥

का भेंट करना लिखा हुआ है। इस वाक्य में यह बात सिद्ध नहीं हो सकती कि अग्नि शब्द का अर्थ ईश्वर है, किन्तु उसमें ईश्वर का जिकर भी नहीं है। इस बात की साबूती में स्वामीजी एक प्रमाण[1] देते हैं—'यत्रोपास्यत्वेन०' अर्थात् जहाँ सब देवों का पूजन कहा है, वहाँ परमेश्वर को समझना चाहिये। फिर इसकी पुष्टि में स्वामीजी मनु का प्रमाण देते हैं—'आत्मैव देवताः सर्वाः०' अर्थात् आत्मा सब देव है, और आत्मा ही में संसार स्थित है। यह नहीं समझ सकते कि यह वचन स्वामीजी का मन प्रसन्न[2] प्रमाण की पुष्टता कैसे कर सकती है।

स्वामीजी—ऊपर के वचनों से ईश्वर का नाम अग्नि सिद्ध कर दिया गया है। परन्तु पक्षपात छोड़ के विद्या की आँख से देखने वाले को स्पष्ट मालूम होता है कि निस्सन्देह अग्नि ईश्वर का भी नाम है। वेदों में अनेक ईश्वर का विधान कहीं नहीं है। और जो देवता शब्द से सृष्टि के भी पदार्थों का विधान है, उसका उत्तर 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के अङ्क ३ के 'देवता विधान प्रकरण'[3] को देखने से अच्छी प्रकार जान लेना। अर्थात् जिस-जिस गुण और अभिप्राय से सृष्टि के पदार्थों का नाम देवता रक्खा गया है, उसको देख लेना चाहिये। क्योंकि वहाँ यह बात अनेक प्रमाणों से सिद्ध कर दी है। परन्तु चारों वेदों में उनको[4] दूसरा ईश्वर कहीं नहीं माना है। और न ईश्वर के तुल्य पूजना कहा है, किन्तु उनकी दिव्यगुणों से व्यवहारमात्र में 'देवता' संज्ञा मानी है। चारों वेदों में एक से दूसरा ईश्वर कहीं प्रतिपादन नहीं किया है। तथा इन्द्र, अग्नि और प्रजापति आदि शब्दों से ईश्वर और भौतिक दोनों का प्रतिपादन किया है।

और जो पण्डितजी लिखते हैं—कि 'अग्नि शब्द का अर्थ ईश्वर नहीं है, किन्तु उस स्थान में जिकर भी नहीं। इसका उत्तर यह है कि इसमें वेद, वेदान्त, ब्राह्मण तथा मेरा दोष नहीं, किन्तु इसमें पण्डितजी के शास्त्रों में न्यून अभ्यास का दोष है। क्योंकि जो मनुष्य वेदादि शास्त्रों का यथार्थ अर्थ न समझा होगा, उसके उलटे ज्ञान हो जाने का सम्भव है। वेदों में एक ईश्वर के प्रतिपादन में भूमिका अङ्क ४ में ८९ के पृष्ठ से ९२ तक[5] 'ब्रह्मविद्याप्रकरण' की समाप्ति पर्य्यन्त देखना चाहिये।

'आत्मैव देवताः सर्वाः०'[6] इसका अभिप्राय पण्डितजी ने ठीक-ठीक नहीं समझा है। क्योंकि इसका मतलब यह है कि आत्मा अर्थात् परमेश्वर ही अग्नि आदि सब व्यवहार के देवताओं का रचन, पालन और विनाश करने वाला है। तथा 'अग्निर्देवताः०'[7] इत्यादि प्रकरण में व्यवहार के देवता और अग्नि आदि नामों से परमेश्वर का भी ग्रहण है। क्योंकि 'सर्वमात्मन्यवस्थितम्'[8] इस वचन से सिद्ध होता है कि सब जगत् का आत्मा जो परमेश्वर है सो उसी में स्थिर है, और वही सब में व्यापक है। इस अभिप्राय से यह बात सिद्ध होती है कि अग्नि परमेश्वर का भी नाम है। इससे मेरा कहना यथार्थ पुष्टि रखता है।

पं० महेश०—ऐतरेय ब्राह्मण के प्रमाण से अग्नि और विष्णु दो ही देव मुख्य करके पूजनीय माने हैं। क्योंकि वे ही यज्ञ में आदि [और] अन्त के देव हैं, जिनके द्वारा सब बीच वालों को भाग

---

१. अगला वचन प्रामाणरूप नहीं है अपितु स्वामी दयानन्द का अपना वचन है। द्र० पृष्ठ ३६ की ११ वीं टिप्पणी।

२. अर्थात् पसन्द। ऋषि दयानन्द 'पसन्द' के अर्थ में सर्वत्र 'प्रसन्न' शब्द का ही व्यवहार करते हैं प्र + सद् + क = प्रसन्न। मनोऽस्मिन् प्रसीदति स प्रसन्नः।

३. रा. ला. क. ट्र. संस्क० पृष्ठ ६७—८० तक

४. अर्थात् अग्नि आदि भौतिक पदार्थों को।

५. रा. ला. क. ट्र. संस्क० पृष्ठ १०२—१०५ तक

६. मनु० १२। ११९॥

७. यजु० १४। २०॥

८. मनु० १२। ११९॥

पहुँचता है। इसलिये इन्हीं दोनों की सब देवों के तुल्य स्तुति की गई है। इसमें स्वामीजी ऐतरेय ब्राह्मण का जो प्रमाण देते हैं, सो उनके कथन की पुष्टि तो नहीं करता, किन्तु विरुद्ध पड़ता है।

स्वामीजी—अब जो पण्डितजी 'अग्निर्वै सर्वा देवताः'[1] इसमें भ्रान्त हुए हैं, सो ठीक नहीं। और जो 'अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः ॥'[2] इत्यादि ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण धरा है, इसका अर्थ ठीक ठीक पण्डितजी नहीं समझे हैं। इसका अभिप्राय यह है कि 'अग्निर्वै सर्वा देवताः, विष्णुः सर्वा देवताः' इसका भी मनु के प्रमाण समान अर्थ होने से मेरे अभिप्राय की पुष्टि करता है। और जहां भौतिक वा मन्त्र ही देवता लिये गये हैं, वहां पुरोडाश आदि करने की क्रिया द्रव्ययज्ञ में संघटित यथावत् की गई हैं। क्योंकि जब प्रथम अग्नि में होम किया जाता है और उससे सब द्रव्यों के रस और जल आदि के परमाणु पृथक् पृथक् हो जाते हैं, तब वे हलके होके सूर्य्य के आकर्षण से वायु के साथ मेघमण्डल में जाके रहते हैं। फिर वे ही मेघाकार संयुक्त होकर वृष्टि द्वारा पृथ्वी आदि मध्यस्थ देवसंज्ञक व्यवहार के पदार्थों को पुष्ट करते हैं। इसका नाम 'भाग' और 'बलिदान'[3] है। तथा इसी कारण अग्नि को प्रथम और सूर्य को अन्त में माना है। ऐसे ही अग्नि को सूक्ष्म और सूर्यलोक को अग्नि का बड़ा पुञ्ज समझा है। इत्यादि अभिप्राय से यह पंक्ति ऐतरेय ब्राह्मण में लिखी है, जिसको पण्डितजी ने न जान कर मेरे लेख पर विरुद्ध सम्मति दी है।

पं० महेश०—निरुक्त भी कुछेक ही साक्षी देता है। स्वामीजी 'अग्निः कस्माद् अग्रणीर्भवति'[4] इत्यादि निरुक्त का प्रमाण धरते हैं, कि जिसमें अग्नि शब्द की साधना की गई है। कई धात्वर्थ केवल भौतिक अग्नि के वाची हैं। और स्वामीजी भी इस बात को मानते हैं, और कहते हैं कि 'सिवाय भौतिक के अग्नि शब्द से ईश्वर का भी ग्रहण होता है'। और यह अर्थ 'अग्रणीः' शब्द से लेते हैं। जैसा कि निरुक्तकार समझता है कि अग्नि शब्द 'अग्र-नी' से मिल कर बना है। निरुक्तकार इस शब्द के कुछ विशेष अर्थ नहीं करता है। शतपथ ब्राह्मण जिसको स्वामीजी मानते हैं विशेष अर्थ बताता है, परन्तु ईश्वर के नहीं। यद्यपि वे कुछ कहते हैं, लेकिन सिवाय भौतिक के दूसरा अर्थ नहीं हो सकता।

स्वामीजी—अब जो पण्डितजी लिखते हैं कि निरुक्तकार भी कुछेक ही सम्मति देता है, सो नहीं। क्योंकि निरुक्त में 'अग्नि' शब्द से 'परमेश्वर' और भौतिक दोनों अर्थों का यथावत् ग्रहण किया है।[5] तथा उसमें अग्नि शब्द का साधुत्व तो कुछ भी नहीं लिखा है, किन्तु धात्वर्थ के निर्देश से अर्थप्रतीति कराई है।[6] क्योंकि शब्दों का साधुत्व व्याकरण का ही विषय है, निरुक्त का नहीं। इसलिये उसमें रूढि यौगिक और योगरूढ़ि शब्दों [के अर्थों] का निरूपण मुख्य करके किया गया है। जैसे कि 'इतात्, अक्तात्, दग्धात् वा नीतात्' इनमें 'इण्' धातु गत्यर्थक, 'अञ्जू' व्यक्त्याद्यर्थ, 'दह' भस्मीकरणार्थ, 'णीञ्' प्रापणार्थ दिखाने से विद्वानों को ऐसा भ्रम कभी नहीं हो सकता है कि अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों का ग्रहण नहीं है। क्योंकि 'इण्' और 'अञ्जू' इन धातुओं के गत्यर्थ होने से ज्ञान, गमन, प्राप्ति ये तीनों अर्थ लिये

---

१. ऐत० १ । १ ॥ शत० १ । ६ । २ । ८ ॥　　　　२. ऐत० १ । १ ॥

३. यहाँ 'भाग' शब्द के साथ केवल 'बलि' शब्द का प्रयोग होना चाहिए अर्थात् भाग और बलि पर्याय हैं।

४. निरुक्त ७ । १४ ॥

५. अग्नि शब्द का साक्षात् रूप से परमात्मा अर्थ निरुक्तकार ने अध्याय १३ के आरम्भ में अतिस्तुति प्रकरण में किया है। वहाँ भी ये ही निर्वचन अभिप्रेत हैं। 'अग्रणी' पद से परमेश्वर अर्थ लिया जाता है, इस विषय में ग्रन्थकार ने इसी सन्दर्भ में आगे विशेष रूप से कहा है वहाँ देखिए। उस पर हमारी टिप्पणी भी द्रष्टव्य है।

६. द्र० पृष्ठ ३६ टिप्पणी १५।

जाते हैं। इनमें ज्ञान और प्राप्त्यर्थ से परमेश्वर तथा गमन और प्राप्त्यर्थ से भौतिक पदार्थ ये दोनों ही लिये जाते हैं।

और 'अग्रणी' शब्द तथा 'अग्रं यज्ञेषु प्रणीयतेऽङ्गं नयति[1]।' इसके अभिप्राय से अग्नि शब्द परमेश्वर[2] और 'न क्नोपयति न स्नेहयति' इससे भौतिक पदार्थ में लिया जाता है। यह निरुक्त का अभिप्रायार्थ है, [यह] मन्त्रभाष्य के दूसरे पृष्ठ[3] में ठीक-ठीक लिख दिया गया है। जो उसको पण्डितजी यथार्थ विचारते तो इस वेदभाष्य पर ऐसी विरुद्ध सम्मति कभी न देते। क्योंकि निरुक्तकार ने पूर्वोक्त प्रकार से दोनों अर्थ का विशेष अच्छी तरह दिखला रक्खा है। परन्तु जो कोई किसी के लेख का अर्थ यथावत् नहीं समझते, उनको उसके विशेष वा सामान्य अर्थ का ज्ञान कभी नहीं हो सकता।

पं० महेश०—'प्रजापतिर्ह वा इदमग्र'[4] हमारी मुराद यह नहीं है कि हम शतपथ ब्राह्मण में अग्नि शब्द भौतिक का वाची ढूँढ़ें, किन्तु मैं यह बताता हूँ कि पूर्वोक्त वाक्य से निश्चय होता है कि अग्नि सिवाय आग के दूसरा अर्थ नहीं देती है।

स्वामीजी—पण्डितजी का कथन है हमारी मुराद यह नहीं है कि हम शतपथ ब्राह्मण में अग्नि शब्द भौतिक का वाची ढूंढ़ें इत्यादि। इस का उत्तर यह है कि मैं पूर्वोक्त प्रकार अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों अर्थों को लेता हूँ, सो वेदादि शास्त्रों के प्रमाण से निर्भ्रमता के साथ सिद्ध है। परन्तु पण्डित जी का अभिप्राय जो अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण में विरुद्ध है, उसका हेतु यह मालूम पड़ता है कि पण्डितजी बाल्यावस्था से लेकर आज पर्य्यन्त अग्नि शब्द से भौतिक अर्थात् चूल्हे आदि में जलने वाली ही अग्नि को सुनते और देखते आये हैं, इसलिये वहीं तक उन की दौड़ है।

परन्तु मैं उनसे मित्रभाव से कहता हूँ कि वेद, वेदाङ्ग, उपाङ्ग और ब्राह्मण आदि सनातन आर्षग्रन्थों के अर्थ जानने में अधिक पुरुषार्थ करें कि जिस से ऐसी ऐसी तुच्छ शङ्का हृदय में उत्पन्न न हों। क्योंकि जो जो शतपथ के प्रमाण मैंने वेदभाष्य में अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण विषय में धरे हैं, वे क्या शतपथ के नहीं हैं? जो शङ्का हो तो उक्त जगह पुस्तक में देख लेवें।

और जिस वाक्य की पङ्क्ति का प्रमाण पण्डितजी ने धरा है उसमें का मुख्य पाठ उन्होंने पहिले ही उड़ा दिया। इस चालाकी को देखना चाहिये कि-'तद्यदेनं मुखादजनयत् तस्मादन्नादोऽग्निः, स यो हैवमेतमग्निमन्नादं वेदान्नादो हैव भवति ॥'[5] इस में 'अन्नाद' शब्द अग्नि का वाची है। और—'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादो अहमन्नादो अहमन्नादः ॥' यह तैत्तिरीय उपनिषद्[6] का वचन परमेश्वर के विषय में है। अर्थात् वह उपदेश करता है कि मैं ही अन्नाद हूँ। और 'अन्नाद' अग्नि को कहते हैं, इससे यहाँ भी परमेश्वर का नाम अग्नि आता है।

और दूसरी चाल पण्डितजी यह भी खेले हैं कि जिस आधी पङ्क्ति से शतपथ में अग्नि शब्द से परमेश्वर लिया है, उस पाठ को अपने पुस्तक में नहीं लिखा। देखिये कि—

प्रजापतिः परमेश्वरः यत् यस्मात् मुख्यात् प्रकाशमयान्मुख्यात् कारणात् एनं भौतिकमग्निमजनयत् तस्मात् स परमेश्वरोऽन्नादोऽग्निरर्थादग्निसंज्ञो विज्ञेयः। यो मनुष्यो ह इति निश्चयेनैवममुना प्रकारेणैतमन्नादं परमेश्वरमग्निं वेद जानाति ह इति प्रसिद्धे स एवान्नादो भवत्यर्थाद् ब्रह्मविद्भवतीति ॥"

---

१. निरुक्त ७। १४॥

२. 'अग्रणी' आदि निर्वचनों से अग्नि का अर्थ ब्रह्म स्वीकार किया जाता है इसमें शङ्कराचार्य की सम्मति भी है। यह हम पूर्व पृष्ठ ४ टि० ४ में दर्शा चुके हैं।

३. इस संग्रह में पृष्ठ ४ पर।

४. शत० २।२।४।१॥

५. शत० २।२।४।१॥

६. भृगुवल्ली १०।६॥

इस प्रकार से यह बात निश्चित होती है कि पण्डितजी उन ग्रन्थों का अर्थ ठीक ठीक नहीं जानते, और जितना जानते हैं उसमें भी कपट और आग्रह से सत्य नहीं लिखते। पण्डितजी को विदित हो कि यहाँ पाठशालाओं के लड़कों से प्रश्नोत्तर लेख वा उनकी परीक्षा नहीं है। इस से जो कुछ वे लिखें सो विचारपूर्वक होना चाहिये कि उन को किसी खुशामद वा आग्रह से लिखना उचित नहीं। जो जो शतपथ के प्रमाण मैंने वहाँ वहाँ लिखे हैं, उसका अर्थ भी संक्षेप से लिख दिया है, उनको ध्यान देकर देख लेवें।

पं० महेश०—'अग्निः पृथ्वीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः ॥'[1] पृथिवी का अग्नि ईश्वर अर्थ में कभी नहीं लिया जा सकता है। इस बात को अच्छी तरह प्रकाश करने के लिये कि निरुक्तकार अग्नि शब्द के क्या अर्थ लेता है। (इसमें उक्त वचन प्रमाण है)।

स्वामीजी—फिर जो पण्डितजी ने 'अग्निः पृथ्वीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः'[1] इसमें अपना अभिप्राय जताया है कि क्या पृथ्वी का अग्नि ईश्वर अर्थ में कभी लिया जा सकता है? इसमें पण्डितजी से मैं पूछता हूँ कि क्या आप अन्तरिक्ष और सूर्यादि लोकस्थ अग्नि ईश्वर अर्थ में ग्रहण नहीं करते तथा क्या परमेश्वर के व्यापक होने से [उसका] पृथिवीस्थान नहीं हो सकता?

और उनको विचारना चाहिये कि 'पृथ्वी स्थानं यस्य सः परमेश्वरोऽग्निर्भौतिकश्चेत्यर्थद्वयं गृह्यताम्।' इस वचन के अथ पर उनका अभिप्राय ठीक नहीं सिद्ध होता, क्योंकि इस बात को कौन सिद्ध कर सकता है कि पृथिवी से भिन्न अन्य पदार्थ में भौतिक अग्नि नहीं है, जब कि यहाँ पृथिवी अर्थात् सब सृष्टि भर ली जाती है। तथा कार्य और कारणरूप को भी पृथिवी शब्द से लेते हैं। फिर इनका अभिप्राय इस बात में शुद्ध कभी नहीं हो सकता। क्योंकि रूप गुण वाला पदार्थ अग्नि शब्द से गृहीत होता है, और न केवल चूल्हे वा वेदि में धरा हुआ।

तथा पृथिवी-स्थान शब्द के होने से अग्नि शब्द का ग्रहण परमेश्वर अर्थ में भी यथावत् होता है। जैसे—

"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरोऽयं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं पृथिवीमन्तरो यमयति स त आत्मा अन्तर्य्याम्यमृतः ॥"

यह वचन शत० कां० १४ अ० ६ ब्रा० ५ कण्डिका ७ का है, कि जिसमें पृथिवी स्थान शब्द से परमेश्वर का ग्रहण किया है। क्योंकि जहाँ कहीं अन्तर्यामी शब्द से परमेश्वर की विवक्षा होती है, वहाँ एक जीव के हृदय की अपेक्षा से भी परमेश्वर का ग्रहण होता है। जैसे—"स त आत्माऽन्तर्य्याम्यमृतः ॥"[2] अर्थात् गौतम ऋषि से याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे गौतमजी! जो पृथिवी में ठहर रहा है और उससे पृथक् भी है, तथा जिसको पृथिवी नहीं जानती, जिसके शरीर के समान पृथिवी है, जो पृथिवी में व्यापक होकर उसको नियम में रखता है, वही परमेश्वर अमृत अर्थात् नित्यस्वरूप तेरा जीवात्मा का अन्तर्यामी आत्मा है।

इतने ही से बुद्धिमान् समझ लेंगे कि पण्डितजी निरुक्त का अभिप्राय कैसा जानते हैं?

पं० महेश०—तथा देवता विषय में उसका कैसा विचार था, आगे के प्रमाण अंग्रेजी टीका सहित लिखते हैं—"यत्काम ऋषिर्यस्यां०"[3] जिस मन्त्र से जिस देवता की स्तुति की जाती है वही उस मन्त्रका देवता है। "माहाभाग्याद्देवतायाः०"[4] अर्थात् देवता एक ही है परन्तु उसमें बहुत सी शक्ति होने के कारण अनेक रूपों में पूजा जाता है, उसके सिवाय और और देव उस के अङ्ग हैं। प्राचीन अनुक्रमणिकाकार[5] भिन्न-भिन्न

१. निरुक्त ७। १४॥
२. शत० १४। ६। ७। ७॥
३. निरु० ७। १॥
४. निरु० ७। ४॥
५. अर्थात् ऋक्सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन।

मन्त्रों के पृथक्-पृथक् देवता विभाग करता है। और इसका प्रमाण स्वामीजी ने माना है।[1] देखो पृष्ठ १ पं० २ तथा पृ० २३ पं० १४[2] इसी विषय की।

परन्तु बात काट के उसके असली अर्थ के विरुद्ध कहते हैं कि सब मन्त्रों का देवता परमेश्वर है, अग्नि वायु आदि नहीं। यह हिन्दुओं का बड़ा सत्यानुसार धर्म है कि अनेक देवते एक ईश्वर ही के प्रकाशरूप हैं। इस बात का प्रमाण ऐतरेयोपनिषद्[3] में लिखा है कि जिसको स्वामीजी भी मानते हैं। जैसे—

"निहितमस्माभिरेतद् यथावदुक्तं मनसीत्यथोत्तरं प्रश्नमनुब्रूहीति० इत्यादि ॥[4] ४। ५–६ ॥

स्वामीजी—"यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति ॥"[5]
इसका उत्तर भूमिका अङ्क के देवता विषय में देख लेना। वहाँ अभिप्राय सहित लिख दिया है। अर्थात् प्रकारान्तर से व्यवहार के पदार्थों की भी देवसंज्ञा मानी है, पूज्योपास्य बुद्धि से नहीं।

अब प्राचीन अनुक्रमणिकाकार जो भिन्न-भिन्न देवता मानता है, सो भी इस अभिप्राय से है कि 'इस मन्त्र का अग्निदेवता' [है] इत्यादि लेख से कुछ आपकी बात की पुष्टि नहीं होती। क्योंकि वहाँ केवल नाममात्र का प्रकाश है विशेष अर्थ का नहीं। वैसे ही अग्नि शब्द के पूर्वोक्त प्रकार से घटित दोनों अर्थ लिखे जाते हैं। तथा सब मन्त्रों का देवता परमेश्वर इस अभिप्राय से है कि सब देवों का देव पूजनीय और उपासना योग्य एक अद्वितीय ईश्वर ही है। सो यथावत् देवता प्रकरण में लिख दिया है,[6] वहाँ देख लेना, कि व्यावहारिक अग्नि वायु को देवता किस लिये और परमेश्वर किस प्रकार माना जाता है।

ऐसे ही सब जगत् को ब्रह्म मानना तथा ब्रह्म को जगत्‌रूप समझना, यह हिन्दुओं की बात होगी, आर्यों की नहीं। हम लोग आर्य्यावर्त्तवासी ब्राह्मणादि वर्ण और ब्रह्मचर्य्यादि आश्रमस्थ ब्रह्मा से लेकर आज पर्य्यन्त परमेश्वर को वेदरीति से ऐसा मानते चले आये हैं कि वह शुद्ध, सनातन, निर्विकार, अज, अनादिस्वरूप, जगत् के कारण से कार्यरूप जगत् का रचन पालन और विनाश करने वाला है। और हिन्दू उसको कहते हैं कि जो वेदोक्त सत्य मार्ग से विरुद्ध चले। इसमें पण्डितजी ने जो मैत्र्युपनिषद्[7] का प्रमाण धरा है सो भी बिना अर्थ जाने हुए लिखा है। क्योंकि वहाँ ब्रह्म को उपासना का प्रकरण है। तद्यथा :—

"यस्तपसाऽपहतपाप्मा ओं ब्रह्मणो महिमेत्येवैतदाह। यः सुयुक्तोजस्रं चिन्तयति तस्माद् विद्यया तपसा चिन्तया चोपलभ्यते ब्रह्म। स ब्रह्मणः पर एता अधिदैवत्वं देवेभ्यश्चेत्यक्षय्यमपरिमितमनामयं सुखमश्नुते य एवं विद्वाननेन त्रिकेण ब्रह्मोपास्ते ॥"

---

१. ऋषि दयानन्द ने भी अपने वेदभाष्य में ऋग्वेद के देवता इसी ग्रन्थ के अनुसार "प्रायः" लिखे हैं (क्वचित् भेद भी है)।

२. यह पृष्ठ पङ्क्ति संख्या पं० महेशचन्द्र के ग्रन्थ की है।

३. यहाँ 'मैत्रायण्युपनिषद्' पाठ चाहिए। अगला उद्ध्रियमाण प्रमाण मैत्रायण्युपनिषद् का है। श्री स्वामीजी ने भी अपने उत्तर में मैत्र्युपनिषद्' का ही उल्लेख किया है। वहाँ भी 'मैत्रायण्युपनिषद्' पाठ होना चाहिए। 'मैत्रायण्युपनिषद्' को श्री स्वामीजी महाराज दशोपनिषद् के समान प्रमाण नहीं मानते, पुनरपि वेदभाष्य के नमूने के अङ्क में पृष्ठ ६ (यही संग्रह) में प्रमाण देने से पं० महेशचन्द्र को भ्रान्ति हुई है।

४. मैत्रायण्युपनिषद् प्रपाठक ४। मैत्रायण्युपनिषद् के समस्त पाठ श्री पं० सातवलेकरजी द्वारा सम्पादित मैत्रायणी संहिता के अन्त में छपे मैत्रायणी आरण्यक के अनुसार हैं। अन्यत्र छपी मैत्रायण्युपनिषद् में ये पाठ नहीं मिलते।

५. निरुक्त ७।१॥ द्रष्टव्य ऋ० भा० भू० रा. ला. क. ट्र. सं० पृष्ठ ६८।

६. ऋ० भा० भू० रा. ला. क. ट्र. सं० पृष्ठ ७२।

७. मैत्रायण्युपनिषद् शुद्ध पाठ होना चाहिए।

जो पण्डितजी इस प्रकरण का अर्थ ठीक-ठीक समझ लेते, तो परमेश्वर का नाम अग्नि नहीं, ऐसा कभी न कह सकते। क्योंकि उसी ब्रह्म के अग्नि आदि नाम यहाँ भी हैं। और ब्रह्म की तनू अर्थात् व्याप्य जो पूर्वोक्त स्थान 'शतपथ ब्राह्मण' में अन्तर्यामी पृथिवी से लेकर जीवात्मा पर्य्यन्त अर्थात् ३० कण्डिका[1] अन्वय और व्यतिरेकालङ्कार से शरीर शरीरी अर्थात् व्याप्य [व्यापक] सम्बन्ध परमेश्वर का जगत् के साथ दिखलाया है सो देख लेना।

उसी शतपथ में पाँचवें[2] ब्राह्मण की ३१ कण्डिका में—"अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योस्ति द्रष्टेत्यादि।" व्याप्यव्यापक सम्बन्ध पूर्वोक्त अलङ्कार से यथावत् दिखला दिया है। इससे—"ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वम्।"[3] इसका अर्थ इस प्रकार से है कि ब्रह्म केवल एक चेतनामात्र तत्त्व है। जैसे किसी ने किसी से कहा कि 'यह सुवर्ण खरा है', तो इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि इस सुवर्ण में दूसरे धातु का मेल नहीं। इसी प्रकार जैसे कार्य्यजगत् के संघातों में अनेक तत्त्वों का मेल है, वैसे ब्रह्म नहीं। किन्तु वह भिन्न वस्तु है। तथा तात्स्थ्योपाधि से यह सब जगत् ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मस्थ है और ब्रह्म सर्व विश्वस्थ भी है। यह इस वचन का ठीक अर्थ है। क्योंकि फिर इसी के आगे यह पाठ है कि—

"या वास्या अग्र्यास्तनवस्ता अभिध्यायेदर्चयेन्निह्नुयाचातस्ताभिः सहैवोपर्य्युपरि लोकेषु चरत्यथ कृत्स्नः क्षय एकत्वमेति पुरुषस्य पुरुषस्य॥"[4]

अर्थात जो विद्वान् पुरुष अपने आत्मा में ब्रह्म की उपासना ध्यान और उसी की अर्चा कर अपने हृदय के सब दोषों को अलग करे। इसके उपरान्त जब अपने अन्तःकरण से शुद्ध होकर मुक्ति पा चुकता है, तब वह उन्हीं पूर्वोक्त तनुओं के सहित उपरि सब लोकों के बीचों बीच रहता हुआ, अन्त में परमेश्वर की सत्तामात्र को प्राप्त हो जाता है। सब मुक्त पुरुषों के समीप रहता हुआ अकथनीय परम आनन्द में किलोल करता है।

इसके आगे भी 'मैत्र्युपनिषद्'[5] के पञ्चम प्रपाठक के आरम्भ में कौत्सायिनी स्तुति के अनुसार भी "त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिः, त्वमग्निः" इत्यादि प्रमाण से अग्न्यादि परमेश्वर के नाम यथावत् हैं। इससे यह बात पाई गई कि यद्यपि पण्डितजी प्रोफेसर ग्रिफिथ, टानी साहब के वकील भी हुए, तथापि मुकद्दमा में खारिज होने के योग्य हैं। तथा यह भी जान पड़ा कि वेदभाष्य पर विरुद्ध सम्मति देने वाले वेदादि शास्त्रों का ज्ञान कम रखते हैं।

पं० महेश०—"तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः॥"[6] जो लोग निरुक्त के समझने वाले हैं, वे कहते हैं कि देवता तीन ही हैं। अग्नि, वायु और सूर्य। इन देवताओं का बल बहुत और काम पृथक् पृथक् होने से उनको कई नामों से बोलते हैं।

"अथाकारचिन्तनं देवतानाम्; पुरुषविधाः स्युरित्येके चेतनावद्वद्धि स्तुतयो भवन्ति तथाभिधानानि। अथापि पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्ते॥"[7]

---

१. अजमेर मुद्रित में 'पर्यन्त २४ अर्थात् अन्वय' ऐसा अपपाठ है। द्र० शत० १४।६।७।७—२४।

२. यह ब्राह्मण निर्देश प्रपाठक विभाग के अनुसार है। अध्याय विभाग के अनुसार 'सातवाँ ब्राह्मण' पाठ जानना चाहिए। सर्वत्र प्रायः अध्यायविभागानुसार ही शतपथ के पते ग्रन्थकार ने दिए हैं।

३. मैत्रायण्युप० प्रपा० ४।६॥

४. मैत्रायण्युप० प्रपा० ४॥

५. यहाँ 'मैत्रायण्युपनिषद्' पाठ होना चाहिए।

६. निरुक्त ७।५॥

७. निरुक्त ७।६॥

कितने ही देवते मनुष्यों के समान हैं। अर्थात् वे मनुष्यों के तुल्य घोड़े आदि की सवारी और खाना पीना सुनना बोलना आदि काम करते हैं। कुछ देवते ऐसे हैं कि मनुष्यों के तुल्य नहीं, परन्तु दृष्टि में आते हैं जैसे अग्नि, वायु, आदित्य, पृथिवी और चन्द्रमा। तथा कितने ही चेतन नहीं हैं जैसे सिक्का[1] वनस्पति आदि।

तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात् तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः ॥[2]

हम कह चुके हैं कि देवता तीन हैं—अग्नि, वायु और सूर्य, जिनके गुणों की व्याख्या कर दी है। अब अग्नि के गुण बताते हैं, अर्थात् वह देवताओं के पास चढ़ावा पहुँचाता है तथा उनको यज्ञ में बुलाता है, ये अग्नि के प्रत्यक्ष काम हैं।

"अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः ॥"[3] जो अग्नि पृथिवी पर रहता है, प्रथम हम उसी का वर्णन करते हैं। इसका अग्नि नाम क्यों हुआ, क्योंकि वह प्रथम ही आता है, देखो 'अग्निमीळे' इत्यादि।

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि निरुक्तकार अग्नि शब्द से सिवाय भौतिक के दूसरी चीज नहीं समझा है। यह ब्रा० और नि० से स्वामीजी का कथन ठीक नहीं। श्रौत सूत्र[4] जो वेद की प्राचीन व्याख्या है, यद्यपि स्वामीजी ने उसका कोई प्रमाण नहीं दिया, परन्तु मैं कुछ साक्षी के तौर पर प्रमाण देता हूं—सू० २६। कण्डिका १। अ० १ तथा सू० ७। कं० १३। अ० ४ में देखने से साफ मालूम होता है कि 'अग्निमीळे०' यह मन्त्र भौतिक अग्नि की पूजा विधान में लिखा गया है।

स्वामीजी—इसके आगे पण्डितजी "तिस्र एव देवता०" इत्यादि निरुक्त का अभिप्राय लिखते हैं। सो उन्होंने इसका भी अर्थ ठीक ठीक नहीं जाना। क्योंकि इस प्रकरण में भी पूर्वोक्त प्रकार से दोनों व्यवस्था जानी जाती हैं अर्थात् अग्नि आदि नामों से व्यवहारोपयुक्त पदार्थ और पारमार्थिक उपास्य परमेश्वर दोनों ही का यथावत् ग्रहण होता। इस निरुक्त का अर्थ भूमिका के अङ्क ३ पृष्ठ ६० पंक्ति ८ वीं से अङ्क ४ पृष्ठ ७८ तक[5] देखने से ठीक ठीक उत्तर मिल जायगा।

और इसके आकार चिन्तन से यह अभिप्राय है कि—जिस जिस पदार्थ में जो जो गुण होते हैं, उन का यथावत् प्रकाश करना 'स्तुति' कहाती है। सो जड़ और चेतन दोनों में यथावत् घटती है। इसी प्रकरण में "एकस्य सतोऽपि वा पृथगेव स्युः पृथग्घ स्तुतयो भवन्ति तथाऽभिधानानि ॥"[6] इस पङ्क्ति का अर्थ पण्डितजी ने न विचारा होगा, नहीं तो इतने आडम्बर का लेख क्यों करते। क्योंकि देखो—

"तासां माहाभाग्यादेकैकस्यापि बहूनि नामधेयानि भवन्ति ॥"[7] इसका अभिप्राय यह है कि अग्न्यादि संसारी पदार्थों में भी ईश्वर की रचना से अनेक दिव्य गुण हैं कि जिनके प्रकाश के लिये वेदों में उन पदार्थों के अग्न्यादि कई कई नाम लिखे हैं। तथा वे ही नाम गुणानुसार एक अद्वितीय परमेश्वर के भी हैं। उन्हीं पृथक् पृथक् गुणयुक्त नामों से परमेश्वर की स्तुति होती है। तथा उसी के वेदों में सर्वसुखदायक स्वयंप्रकाश सत्य ज्ञानप्रकाशक नाना प्रकार के व्याख्यान लिखे हैं।

इस प्रकार सब सज्जन लोगों को जान लेना चाहिये कि अग्न्यादि नामों से पूर्वोक्त दोनों अर्थों का ग्रहण होता है, केवल एक का नहीं। और—

---

१. यह पाठ सन्दिग्ध है। निरुक्त के अनुसार यहाँ 'अक्ष' पाठ होना चाहिए—'यथाऽक्षप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि'। निरुक्त ७। ७॥

२. निरु० ७। ८॥ यह पाठ प्रथम संस्करण और शताब्दीसंस्करण (पृष्ठ ८९५ भाग २) में उपलब्ध होता है। अगले संस्करणों में छूट गया है।

३. निरुक्त ७। १४॥

४. यहाँ आश्वलायन श्रौतसूत्र से अभिप्राय है।

५. रा. ला. क. ट्र. संस्क० में पृष्ठ ६७ पं० २६ से पृष्ठ ८८ पं० १८ तक।

६. निरुक्त ७। ५॥

७. निरुक्त ७। ५॥

"तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तत्तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः ॥"[१]

इसका अभिप्राय यह है कि उन व्यावहारिक देवताओं का जुदापन, साहचर्य अर्थात् संयोग दो प्रकार का होता है—एक समवायसम्बन्ध, दूसरा संयोग सम्बन्ध। समवाय नित्य गुण-गुणी आदि में होता है, और संयोग सम्बन्ध गुणी और गुणियों[२] का होता है। जैसे जगत् के पदार्थों में स्वाभाविक और नैमित्तिक सम्बन्ध होता है, वैसे ही परमेश्वर में भी जान लेना, कि वह अपने स्वाभाविक गुण और सामर्थ्यादि के साथ समवाय और जगत् के कारण कार्य तथा जीव के साथ संयोग सम्बन्ध अर्थात् व्याप्य व्यापकतादि प्रकार से है। इस वचन में भी परमेश्वर का त्याग कभी नहीं हो सकता।

तथा जैसे भौतिक अग्नि का काम व्यावहारिक देवताओं को हवि[३] चढ़ाना वा पहुँचाना है तथा मन्त्र देव और दिव्य गुणों को जगत् में प्राप्त करना है, वैसे ही सब जीवों को पाप पुण्य के फल पहुँचाना और ज्ञानानन्दी मोक्षरूप यज्ञ में धार्मिक विद्वानों को हर्षयुक्त कर देना परमेश्वर का काम है।

"अग्निः पृथिवीस्थान०" इस की व्याख्या पूर्व कर आये हैं। और "अग्निमीळे" इसकी व्याख्या निरुक्त के अनुसार इसी मन्त्र के भाष्य में लिख दी है[४] परन्तु वहाँ भी दो ही अग्नि लिये हैं। क्योंकि एक अध्येषणाकर्मा अर्थात् परमेश्वर और भौतिक, दूसरा पूजाकर्मा अर्थात् केवल परमेश्वर ही लिया है।

तथा "अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः[५]०" इस मन्त्र की व्याख्या में निरुक्तकार का स्पष्ट लेख है कि—

"स न मन्येतायमेवाग्निरित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते ॥"[६]

इसका अर्थ यह है कि-वह अग्नि जो परमेश्वर का वाची है, चूल्हे में प्रत्यक्ष जलने वाला नहीं है। किन्तु जो कि अपने व्याप्य में व्यापक विद्युतरूप और जो उत्तर अर्थात् कारणरूप ज्योतिःस्वरूप और सब का प्रकाशक है तथा जो परमेश्वर का अग्नि शब्द से ग्रहण करना कहा है, एक आनन्दस्वरूप परमात्मा का स्वीकार है, जैसा कि पूर्वोक्त प्रकार से बुद्धिमान् लोग जान लेंगे कि वे सब प्रमाण जो मैंने इस विषय में लिखे हैं, मेरी बात की पुष्टि करते वा नहीं। तथा पण्डितजी की पकड़ ठीक है वा नहीं?

और जो कि वे श्रौतसूत्र का प्रमाण लिखते हैं, उसका भी अभिप्राय उन्होंने यथार्थ नहीं जाना। क्योंकि वहाँ तो केवल होमक्रिया करने का प्रसङ्ग है, और होता आदि के आसनादिक और अध्वर्यु आदि के काम पृथक्-पृथक् लिखे हैं, इसलिये वहाँ तत्संसर्गी का ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि जो जिसका काम है, उसको वही करे, यहाँ उस सूत्र की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिये उस का लिखना व्यर्थ है।

तथा आश्वलायन श्रौतसूत्र के चतुर्थाध्याय तेरहवीं कण्डिका के ७ सूत्र में भी केवल कर्मकाण्ड ही की क्रिया के मन्त्रों की प्रतीकें धरी हैं। वहाँ भी पण्डितजी अग्नि शब्द से परमेश्वर का त्याग कभी नहीं करा सकते। किसलिये कि वहाँ मन्त्र ही देवता हैं। और सब शुभ कर्मों में परमेश्वर ही की स्तुति करना सब को उचित है। वहाँ मन्त्र का पाठातिदेश किया है अर्थ नहीं। इस से सूत्र का लिखना पण्डितजी को योग्य नहीं था, क्योंकि वहाँ तो केवल क्रियायज्ञ का प्रकरण है, दूसरी बात का नहीं।

पं० महेश०—'अग्निमीळे०' इस मन्त्र की सिद्धि में और अधिक प्रमाण स्वामीजी ने नहीं दिये हैं परन्तु कई मन्त्रों का प्रमाण धर के कहते हैं कि अग्नि से ईश्वर का ग्रहण है, सो उन मन्त्रों की साधारण विचार परीक्षा से ही मालूम हो जाता है कि उन से स्वामीजी के अर्थ नहीं निकल सकते। पहिला मन्त्र

१. निरुक्त ७। ८॥

२. प्रथम संस्करण में यही शुद्ध पाठ है। अगले संस्करणों में 'अगुणियों का' अपपाठ मिलता है। 'गुणी गुणियोंका' से अभिप्राय 'द्रव्य के साथ द्रव्य का' से है। द्रव्यों में परस्पर संयोग संबन्ध होता है।

३. मूलपाठ 'नल' है।

४. इसी संग्रह में पूर्व पृष्ठ ४॥

५. ऋ. १। १। २॥

६. निरुक्त ७। १६॥

'इन्द्रं मित्रम्०'[1] वे उस को इन्द्र मित्र वरुण और अग्नि आदि नामों से पुकारते हैं। यह मालूम नहीं होता कि इस मन्त्र में किस को सन्मुख करके बोलते हैं। निरुक्तकार कहता है कि वह भौतिक के लिये आया है। कोई सूर्य को बताते हैं। खैर, कुछ भी हो, परन्तु अग्नि से ईश्वर कभी नहीं लिया जा सकता।

और यह जाना गया है कि जब किसी विशेष देवता की स्तुति करते हैं तो उस को शब्द और-और देवताओं के नाम से लाते हैं उस के बल आदि गुण बताने के लिये। 'तदेवाग्नि०' शुक्लयजुर्वेद[2] से कि जिस के समान कृष्णयजुर्वेद में भी है—देखो 'तैत्तिरीय आरण्यक अ० १। प्र०।'[3] इस स्थान में अद्वैत मत का प्रतिपादन है। जैसे देखो—'जो सर्वज्ञ पुरुष सदा था, है और रहेगा, जिस का तमाम ब्रह्माण्ड एक अंश-मात्र है, जिस से वेद उत्पन्न हुए हैं तथा जिससे घोड़ा, गौ, बकरी और खटमल आदि निकले हैं। जिस के मन से चन्द्रमा नेत्रों से सूर्य कानों से वायु और प्राण और मुख से अग्नि वह सर्वव्यापी और सब संसार का आधार है।

इसके बाद स्वामीजी मन्त्र का प्रमाण देते हैं, जैसे—'तदेवाग्नि०' अर्थात् अग्नि, सूर्य, वायु आदि सब एक परमेश्वर के ही गुण[4] नाम हैं। जैसे अग्नि शब्द के अर्थ परमेश्वर में नहीं घटते वैसे ही ऊपर के अर्थ भी नहीं लग सकते, सिवाय इसके जो 'तदेवाग्नि०' पदभेद को विषय अर्थ से मिलावें तो स्वामीजी का अग्नि शब्द को परमेश्वर अर्थ में मिलाना ऐसा असंभव होगा जैसे कह दे कि मनुष्य पशु है अथवा पशु मनुष्य है।

अग्निर्होता कविक्रतुः०[5] स्वामीजी 'कवि' शब्द के अर्थ सर्वज्ञ के लेते हैं तथा सत्य का विनाशरहित, परन्तु निरुक्त में कवि का और ही अर्थ है। और स्वामीजी भी जब मन्त्र को शास्त्रसम्बन्धी अर्थ में लेते हैं तो कई प्रकार के अर्थ करते हैं। कदाचित् स्वामीजी का अर्थ मान भी लें तो वह उनके अभिप्राय को अग्नि ईश्वर का नाम है नहीं खोलता। क्योंकि यह दस्तूर की बात है कि देवता की स्तुति करने में सब प्रकार के विशेषण लाते हैं।

स्वामीजी—अब पण्डितजी प्रमाणों की परीक्षा पर बहुत भूले हैं। क्योंकि मैंने 'अग्नि' शब्द से परमेश्वर के ग्रहण विषय में वेदमन्त्रों के अनेक प्रमाण मन्त्रभाष्य के आरम्भ[6] में लिखे हैं। उनका विचार छोड़कर मृग के समान आगे कूद कर चले गये हैं। इससे मालूम होता है कि पण्डितजी को मन्त्रों का अर्थ मालूम नहीं। और बिना इतनी विद्या के वे साधारण वा विशेष परीक्षा कैसे कर सकते हैं? उनका यह भी लिखना ठीक नहीं कि इन प्रमाणों से स्वामीजी का अर्थ नहीं निकल सकता।

अब विद्वान् लोग पण्डितजी के इस लेख की परीक्षा करें। अर्थात् वे लिखते हैं कि यह मालूम नहीं होता कि 'इन्द्र मित्रं०'[7] इस मन्त्र में 'उसको' शब्द किस के लिये आया है इत्यादि। तथा निरुक्तकार कहता है कि वह भौतिक अग्नि के लिए आया है इत्यादि। सो पण्डितजी को जानना चाहिये कि बिना ज्ञान वेदविद्या के उनकी परीक्षा करना बालकों का खेल नहीं। इस ग्रन्थ में भी अग्नि का पाठ दो बार है। एक—

"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः······।···अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।"[7]

इसका अभिप्राय यह है कि अग्नि शब्द से दोनों अर्थों का ग्रहण होता है। अर्थात् भौतिक और परमेश्वर। तथा उसमें तीन आख्यात पद होने से तीन अन्वय होते हैं, अर्थात् अग्न्यादि नाम भौतिक अर्थ में और परमेश्वर अर्थ में भी दो अन्वय होते हैं।

---

१. ऋ० १।१६४।४६॥ २. यजु० ३२।१॥ द्र०—ऋ० भा० भू० रा. ला. क. ट्र. संस्क० पृ० १७३ टि० १।

३. यहाँ तै० आ० का पता अशुद्ध है। शुद्ध पता तै० आ० १०।१।२ होना चाहिए।

४. गुणों के संयोग से होने वाले अर्थात् गौण।

५. ऋ० १।१।५॥ ६. अर्थात् नमूने के अङ्क में। प्रथम मन्त्र के भाष्य के आरम्भ में।

७. ऋ० १।१६४।४६॥

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निम् ।'[1] अर्थात् एक शब्द से परब्रह्म को विद्वान् लोग अथवा वेदमन्त्र अग्न्यादि नामों से अनेक प्रकार की स्तुति करते हैं। तथा सबका निरुक्त जो दूसरे पृष्ठ[2] में लिख दिया है, उसका भी अर्थ पण्डितजी ने नहीं जाना। क्योंकि वहाँ भी—

'उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ॥'[3] इसका यह अर्थ है कि अग्नि नाम करके पूर्वोक्त प्रकार से उत्तर ज्योति गृहीत होते हैं। अर्थात् भौतिक और परमेश्वर इन दो अर्थों का ग्रहण होता है। तथा 'इमवेवाग्नि०'[4] इत्यादि इन दोनों अर्थों के अभिप्राय में है। क्योंकि विना पठनाभ्यास के कोई कैसा ही बुद्धिमान् क्यों न हो गूढ़ शब्दों का यथावत् अर्थ जानने में उसको कठिनता पड़ जाती है।

इस मन्त्र का अभिप्राय मैंने अच्छी तरह वेदभाष्य में[5] प्रकाशित कर दिया था, तिस पर भी पण्डितजी न समझे। बड़े आश्चर्य की बात है कि विद्या के अभिमानी होकर ऐसी भ्रान्ति में गिर पड़ते, और उन प्रमाण मन्त्रों के यथार्थ अर्थ को उलटा समझते हैं। क्या यह हठ की बात नहीं है कि विद्वान् कहा कर बार-बार यही कहते चले जाना कि अग्नि शब्द से परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता।

जैसे इस मन्त्र के अर्थ में पण्डितजी भूल गये हैं, वैसे ही 'तदेवाग्नि०'[6] जो इसमें तैत्तिरीय आरण्यक का नाम लिखा उसके प्रकरण का अभिप्राय पण्डितजी ने ठीक ठीक नहीं जाना। क्योंकि वहां परमेश्वर का निरूपण और सृष्टिविद्या दिखलाई है। जैसे वह परमेश्वर भूत भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों काल में एक रस रहता है, अर्थात् जब-जब जगत् हुआ था, है और होगा तब-तब वह—

'तदक्षरे परमे व्योमन् ।'[7] सर्वव्यापक आकाशवत् विनाशरहित परमेश्वर में स्थित होता है। क्योंकि—

'येनावृतं खं च दिवं महीं च०[8] इत्यादि।' जिसने आकाश सूर्यादि लोक और पृथिव्यादियुक्त जगत् को अपनी व्याप्ति से आवृत कर रक्खा है।

'येन जीवान् व्यवससर्ज भूम्याम् ।'[9] जो कि जीवों को कर्मानुसार फल भोगने के लिये भूमि में जन्म देता है।

'अतः परं नान्यदणीयमस्ति ।'[10] जिससे परे = सूक्ष्म वा बड़ा कोई पदार्थ नहीं है। तथा जो सबसे पर एक अद्वितीय अव्यक्त और अनन्तस्वरूपादि विशेषण युक्त है।

'तदेवावर्त्तत्तद्व सत्यमाहुस्तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम् ।'[11] वही एक यथार्थ नित्य एक चेतन तत्त्वमय है, वही सत्य वही ब्रह्म तथा विद्वानों का उपास्य परमोत्कृष्ट इष्ट देवता है।

और 'तदेवाग्नि०'[12] अर्थात् वही परमेश्वर अग्न्यादि नामों का वाच्य है।

'सर्वे निमेषा जज्ञिरे[13] इत्यादि।' जिससे सब कालचक्रादि पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। तथा—

'न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम्।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥'[14]

अर्थात् उस परमेश्वर का स्वरूप इयत्ता से दृष्टि में नहीं आ सकता, अर्थात् कोई उसको आंख से

---

१. ऋ० १।१६४।४६। २. अर्थात् नमूने के अङ्क में। इस संग्रह में पृष्ठ ३-४। ३. निरुक्त ७।१६॥
४. निरुक्त ७।१८॥ ५. अर्थात् नमूने के अङ्क में।
६. यजु० ३२ । १ ॥ तै० आ० १० । १ । २ ॥
७. तैत्तिरीय आरण्यक में 'तदक्षरे परमे प्रजाः' पाठ है, द्र० १० । १ । १ ॥ 'ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्' यह ऋक्पाठ है, द्र० १ । १६४ । ३९ ॥ (तै० आ० २ । ११ । १ में भी)।
८. तै० आ० १० । ? । १ ॥ ९. द्र० तै० आ० १० । १ । १ ॥
१०. तै० आ० १० । १ । १ ॥ ११. तै० आ० १० । १ । २ ॥
१२. तै० आ० १०।१।२ ॥ १३. तै० आ० १०।१।२॥ १४. तै० आ० १०।१।३॥

देख सकता किन्तु जो धार्मिक विद्वान् अपनी बुद्धि से अन्तर्यामी परमात्मा को आत्मा के बीच में जानते हैं, वे ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं।

तथा जिस अनुवाक का पण्डितजी ने नाम लिखा है, उसका अभिप्राय ही कुछ और है। अद्वैत शब्द का अर्थ उनकी समझ में ठीक-ठीक नहीं आया। क्योंकि उनके मनमें भ्रम होगा कि सिवाय परमेश्वर के जगत् में दूसरा पदार्थ कोई भी नहीं, किन्तु परमेश्वर ही जगत् रूप बन गया है। क्योंकि वे लिखते हैं कि तमाम ब्रह्माण्ड एक अंशमात्र है, जिससे घोड़ा, गौ और खटमल आदि निकले हैं। इससे उनका अभिप्राय स्पष्ट मालूम होता है कि ब्रह्म ही सब जगत्रूप बन गया है।

यह भ्रान्ति उनको वेदादि शास्त्रों के ठीक-ठीक न जानने के कारण हुई है। क्योंकि देखो 'अद्वैत' शब्द परमेश्वर का विशेषण है, कि जैसे एक-एक मनुष्यादि जाति जगत् में अनेक व्यक्तिमय है, वैसा परमेश्वर नहीं, किन्तु वह तो सब प्रकार से एकमात्र ही है। इसका उत्तर भूमिका अङ्क ४ पृष्ठ ५० की पंक्ति २० में[1] मिलता है। जैसे—

'न द्वितीयो न तृतीयः ॥'[2] इत्यादि में देख लेना। तथा—

'पुरुष एवेद ँ् सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्' ॥[3] इत्यादि मन्त्रों का अर्थ भूमिका अङ्क ५ के ११८ पृष्ठ[4] में 'सहस्रशीर्षा०' इत्यादि की व्याख्या से लेकर अङ्क ६ के १३४ पृष्ठ[5] की समाप्ति पर्यन्त देखने से इसका ठीक उत्तर मिल जायगा।

और—'अग्निर्होता कविक्रतुः० ॥'[6] इसके अर्थ विषय में जो पण्डितजी को शङ्का हुई है कि अग्नि शब्द से ईश्वर कैसे लिया जाता है तो निरुक्त में कवि शब्द का अर्थ क्रान्तदर्शन अर्थात् सब को जानने वाला है। सो सिवाय परमेश्वर के भौतिक में कभी नहीं घट सकता। क्योंकि भौतिक अग्नि जड़ है। इस मन्त्र का अर्थ वेदभाष्य के अङ्क १ पृष्ठ १६ में[7] देख लेना—[कवि]क्रतुः सब जगत् का करने वाला। सत्यश्चित्र-श्रवस्तमः—इत्यादि पदों का अर्थ वहीं देख लेना। जब आग्रह छोड़ के विद्या की आँख से मनुष्य देखता है, तब उस को सत्यासत्य का ज्ञान यथावत् होता है। और जब इस प्रकार की ठीक-ठीक विद्या ही नहीं तो उस को सत्यासत्य का विवेक कभी नहीं हो सकता।

तथा निघं० अ० ३ खं० १५ में 'मेधावी' का नाम 'कवि' लिखा है। सो परमेश्वर के सिवाय भौतिक जड़ अग्नि में कभी नहीं घट सकता। तथा यजुर्वेद अ० ४०। म० ८—'स पर्यगाच्छुक्र० ।' इस मन्त्र में कविर्मनीषी इत्यादि लिखा है। यहाँ भी कवि नाम सिवाय परमेश्वर के भौतिक जड़ अग्नि में कभी नहीं घट सकता। और ये सब प्रमाण मेरे अभिप्राय को ठीक-ठीक सिद्ध करते हैं। तथा पण्डितजी का विशेष लेख मेरे लेख की परीक्षा तो नहीं कर सकता, किन्तु उन की न्यूनविद्या की परीक्षा अवश्य कराता है।

पं० महेश०—'ब्रह्म ह्यग्निः'[8] जो कि आगे की संस्कृत[9] में आता है। जैसे—

'अग्ने महाँ असि ब्राह्मण भारतेति०'[10] इस में अग्नि को ब्राह्मण कहा है। क्योंकि अग्नि इस नियम से—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।'[11] ब्रह्म है। और भारत इसलिये कहते हैं कि वह चढ़ाया हुआ पदार्थ देवताओं

---

१. रा. ल. क. ट्र. संस्क० पृष्ठ १०४ ॥
२. अथर्व १३।४।१६–१८, २०, २१॥
३. यजु० ३१।२॥ द्र० रा. ला. क. ट्र. संस्क० पृ० १३४।
४. रा. ला. क. ट्र. संस्क० पृष्ठ १३९ ॥
५. रा. ला. क. ट्र. संस्क० पृ० १४८।
६. ऋ० १।१।५॥
७. इस संग्रह में पृष्ठ १४ में।
८. शत० १।५।१।११ ॥
९. संस्कृत में अर्थात् वेदभाष्य के नमूने के अङ्क की संस्कृत में।
१०. शत० १।४।२।२ ॥
११. छा० उ० ३।१४।१ ॥

को पहुँचाता है। शत०[1] कां० १, अ० ४, ब्रा० ४, कं० २ इससे मालूम होता है कि यह अग्नि शब्द का अर्थ नहीं किन्तु ब्राह्मण और भारत अग्नि में लगाये हैं।

'आत्मा वा अग्निः'[2] यह शत० कां० ७, अ० ३, ब्रा० ३, कं० ४ के अगले प्रमाण में आया है। जैसे 'यद्वेव चिते गार्हपत्येऽचित आहवनीयेऽथ राजानं क्रीणाति। आत्मा वा अग्निः। प्राणः सोमः आत्मंस्तत् प्राणं मध्यतो दधाति।'[3]

अर्थात् 'बाद रखने गार्हपत्य और पूर्व रखने [आहवनीय] अग्नि के होम करने वाला सोमलता को मोल लेता है। क्योंकि आत्मा अग्नि है तथा प्राण नाम सोम का है, और आत्मा के बीच में प्राण रहते हैं।' यहाँ आत्मा का अर्थ ईश्वर नहीं है, किन्तु मनुष्य के जीव से मुराद है, तथा अग्नि का नाम भी आत्मा अलङ्कार रूप से है। इसीलिए सोमलता प्राण का अर्थ लिया है। अग्नि का अर्थ आत्मा नहीं है जैसे कि सोमलता का अर्थ प्राण है। ११[वाँ प्रमाण[4]] भी शतपथ ब्राह्मण से लिया गया है जिस में इस बात का नाम भी नहीं है कि अग्नि का अर्थ ईश्वर माना जावे किन्तु जहाँ से ये प्रमाण रक्खे हैं, वे बराबर होमादि का विधान करते हैं, और वे निस्सन्देह केवल भौतिक अग्नि का अर्थ देते हैं दूसरा नहीं।

ऐतरेयोपनिषद् के हैं अर्थात् १८ [वें] प्रमाण में ईश्वर का वर्णन प्राण, अग्नि, पञ्चवायु आदि से तथा १३ [वें] में ईशान, शंभु, भव, रुद्र आदि ये सब अर्थ उसी नियम पर हैं कि जिसका कथन कर चुके। सब वस्तु ब्रह्म है, इन प्रमाणों से भी स्वामीजी के कथन की पुष्टता नहीं होती। १३ [वें] प्रमाण में अग्नि कहीं नहीं आया है। सिवाय 'अग्निरिवाग्निना पिहितः'[5] ब्रह्म को अग्नि शब्द के तुल्य करने से कि जो 'अग्निरिव' से उत्पन्न होता है। साफ मालूम होता है कि अग्नि और ईश्वर में बड़ा भेद है, परन्तु बड़ा आश्चर्य है कि स्वामीजी इसी को अपना प्रमाण मानते हैं। १४ [वां] ऐतरेय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण के हैं, जो कह दिये गये।

स्वामीजी—इसके आगे जो-जो प्रमाण मैंने शतपथ के इस विषय में क्रम से धरे हैं, उनको तो देखते विचारते नहीं, परन्तु इधर-उधर घूमते हैं। विद्वानों का यह काम है कि उलट-पुलट के आगे का पीछे और पीछे का आगे कर देवें। 'ब्रह्म ह्यग्निः'[6] इस वचन से स्पष्ट मालूम होता है कि ब्रह्म का नाम अग्नि है। तथा—

'अग्ने महां असि ब्राह्मण भारतेति।'[6] इस वचन के भी दूसरे अर्थ हैं, क्योंकि वहां 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'[7] यह नियम कहीं नहीं लिखा—

'ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्राह्मण इति भारतेत्येष हि देवेभ्यो हव्यं भरति तस्माद् भारतोऽग्निरित्याहुरेष उ वा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्ति तस्मादेवाह भारतेति।'[8]

इस कण्डिका का अर्थ पूर्वापर सम्बन्ध से पण्डितजी न समझे। क्योंकि इसका अर्थ यह है कि हे अग्ने परमेश्वर! आप महान्—सबसे बड़े हैं और बड़े होने से 'ब्राह्मण' तथा सब प्रजा को धारण करने से 'भारत' कहाते हैं, और विद्वानों के लिये सब उत्तम पदार्थों का धारण करते हैं, इसलिए भी आपका

---

१. अगला पता अशुद्ध है। शत० १।४।२।२ चाहिए। द्र०—एष (अग्निः) उ वा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्ति तस्माद्वेवाह भारतेति।

२. शत० ७।३।१।२ ॥ अगला निर्दिष्ट पता अशुद्ध है, तृतीय अध्याय में दो ही ब्राह्मण हैं।

३. शत० ७।३।१।१२ ॥ वै० य० मु० में 'सोमः आत्मानं ततः प्राणं' अपपाठ है।

४. यह तथा अगली प्रमाण संख्या वेदभाष्य के नमूने में उद्धृत प्रमाणों की है। द्र० यही संग्रह पृष्ठ ३–१९ तक।

५. मैत्रायण्युपनिषद् ६।८॥

६. शत० १।५।१।११॥

७. शत० १।४।२।२॥

८. शत० १।४।२।२॥

नाम भारत है। इस कण्डिका के अर्थ से यथावत् सिद्ध होता है कि अग्नि भारत और ब्राह्मण ये नाम परमेश्वर के हैं।

और जो 'आत्मा वा अग्निः'[1] इसमें अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक अग्नि का ग्रहण है, इससे दोष नहीं आ सकता। वही मेरा अभिप्राय है, इसको पण्डितजी ठीक-ठीक नहीं समझे और—'तस्मादयमात्मन् प्राणो मध्यतः ॥'[2] इसका यह अर्थ है कि—'(अयम्) यह होम करनेवाला वा परमेश्वर का उपासक सब के बलकारक प्राण को शरीर में वा मोक्षस्वरूप अन्तर्यामी ब्रह्म के बीच में धारण करता है। क्योंकि सबके प्राण सामान्य से परमेश्वर की सत्ता में ठहर रहे हैं। इससे सबका आत्मा प्राण के बीच में है, और मनुष्य के प्राण की अपेक्षा व्यवहार दशा में है। परन्तु—'स उ प्राणस्य प्राणः ॥' इस केनोपनिषद् [१।२] के विधान से परमेश्वर का नाम भी प्राण है। इससे यहां आत्मन् शब्द से जीवात्मा और परमात्मा का ग्रहण है।

और आत्मा का नाम अग्नि अलङ्कार से नहीं, किन्तु संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध से है। क्योंकि उस प्रकरण में वैसे ही, अग्नि नाम से पूर्वोक्त दोनों अर्थ सिद्ध हैं। और यज्ञादि कर्मों में परमेश्वर का ग्रहण सामान्य से आता है। सोम का नाम प्राण शतपथ में इसलिये है कि वह प्राण अर्थात् बल बढ़ाने का निमित्त है। परमेश्वर का नाम सोम है, सो पूर्वोक्त ऐतरेय ब्राह्मण के प्रकरण में सिद्ध है। और जहाँ जहाँ से प्रमाण लिखे हैं, वहाँ वहाँ सर्वत्र होमादि क्रिया उपासना और परमेश्वर का ग्रहण है। परन्तु पण्डितजी लिखते हैं कि अग्नि नाम से भौतिक अर्थ का ही ग्रहण होता है, यह केवल उनका आग्रह है, इसका उत्तर पूर्व भी हो चुका।

और 'प्राणो अग्निः परमात्मेति।' यह मैत्र्युपनिषद्[3] का प्रमाण भी यथावत् परमेश्वरार्थ को कहता है। प्राण, अग्नि, परमात्मा, ये तीनों नाम एकार्थवाची हैं। तथा आत्मा और ईशानादि भी संज्ञासंज्ञि-सम्बन्ध में स्पष्ट हैं। और 'सब वस्तु ब्रह्म है' इसका उत्तर मैं पूर्व दे चुका हूँ। पण्डितजी वेदादिशास्त्रों को न जान कर भ्रम से जगत् को ब्रह्म मानते हैं। इस प्रकरण में प्राण अग्नि और परमात्मा पर्य्यायवाचक लिखे हैं। उनका अर्थ विना विचारे कभी नहीं मालूम हो सकता। क्योंकि 'पञ्चवायु'[4] इस शब्द से पण्डितजी को भ्रम हुआ है। इसमें केवल व्याकरण का कम अभ्यास कारण है। क्योंकि जिसमें पाँच वायु स्थित हों सो 'पञ्चवायुः'[5] परमेश्वर कहाता है। और इस प्रकरण में 'विश्वभुक्' आदि शब्द भी हैं, इससे दोनों अर्थ वहाँ लिये जाते हैं।

'य एष तपति अग्निरिवाग्निना पिहितः। एष वाव जिज्ञासितव्योऽन्वेष्टव्यः सर्वभूतेभ्योऽभयं दत्त्वाऽरण्यं गत्वाऽथ बहिः कृत्वेन्द्रियार्थान् स्वाच्छरीरादुपलभेतैनमिति। विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तं सहस्ररश्मिः शतधा वर्त्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः। तस्माद्वा एष उभयात्मैवंविदात्मन्येवाभिध्यायत्यात्मन्येव यजतीति ध्यानम्।'[6]

जो परमेश्वर अग्नि और सूर्य्य के समान सर्वत्र तप रहा है, जिसको सब विद्वान् लोग जानने को इच्छा करते और खोजते हैं। तथा सब प्राणियों को अभयदान दे के विषयों से इन्द्रियों को रोक के एकान्त देश में समाधिस्थ होकर इसी मनुष्य शरीर में जिसको प्राप्त होते हैं, वह परमेश्वर विश्वरूप है। अर्थात् जिसका स्वरूप विश्व में व्याप्त हो रहा है, और सब पापों को नाश करने वाला, उसी से वेद प्रकाशित हुए हैं, वह सब विश्व का परम अयन, ज्योतिःस्वरूप एक अर्थात् अद्वितीय, सूर्य्यादि को तपाने वाला असंख्यात ज्योतियुक्त अर्थात् सब विश्व में असंख्यात गुण और सामर्थ्य से सह वर्त्तमान, सबका प्राण

१. शतपथ २।४।२।२॥ २. शत० ७।३।१।२॥ यहाँ 'आत्मंस्तत् प्राणम्' पाठ होना चाहिए
३. यहाँ शुद्धनाम मैत्रायण्युपनिषद् चाहिए। द्र० ६।९॥
४. मैत्रायण्यु० ६।९—परमात्मा वै पञ्च वायुः समाश्रितः।
५. मूल पाठस्थ स्वरानुसार पञ्च वायुः दो पद हैं।
६. मैत्रायण्युप० ६।८, ९॥

अर्थात् सब प्रजाओं के बीच में ज्ञानस्वरूप से उदित और चराचर जगत् का आत्मा है। उस परमेश्वर को जो पुरुष उभयात्मा अर्थात् अन्तर्यामी और परमेश्वर की आत्मा परमेश्वर ही को जानने वाला तथा अपने आत्मा में जगदीश्वर का अभिध्यान और समाधियोग से उसका पूजन करता है, वही मुक्ति को प्राप्त होता है।

इसी प्रकार से—'उपलभेतैनमिति[1] मनुष्य परमेश्वर को प्राप्त हो सकता है अन्यथा नहीं। क्योंकि पण्डितजी ने इस प्रकरण का अर्थ कुछ भी नहीं जाना इसी से विरुद्ध लेख किया। इस प्रकार से यह प्रकरण मेरे लेख का मण्डन और पण्डितजी के लेख का खण्डन करता है। भौतिक अग्नि और परमेश्वर में बड़ा भेद है, यह मैं भी जानता और मानता हूँ, परन्तु पण्डितजी ने मेरे लेख में इन दोनों का भेद कुछ भी नहीं समझा, यह बड़ा आश्चर्य है।

पं० महेश०—'अग्निः पवित्रमुच्यते'[2] पवित्र शब्द की खराबी[3] लगी है कि उसको पवित्र शब्द के अर्थ में लिया है। १८ [वाँ प्रमाण] मनु का है। इस स्थान में मैं कुछ अवश्य कहना चाहता हूँ कि एक बड़ा भाग मनु का जो कि हिन्दू धर्म का बयान करता है। स्वामीजी उसके लौट डालने को अपनी ओर प्रेरणा अर्थात् रसूली समझते हैं। इसलिये मनु के प्रमाण रखने में उनकी चतुराई नहीं समझी जा सकती। और धरा तो धरा करो परन्तु उससे भी सिद्ध नहीं हो सकता कि अग्नि ईश्वर का वाची है। जैसे सब दृष्ट अदृष्ट सृष्टि को परमेश्वर में स्थित देखना चाहिये, आत्मा सर्व देवता है, सब आत्मा में स्थित हो रहे हैं। कोई कहते हैं कि वह अग्नि है, कोई मनु अर्थात् प्रजापति, कोई इन्द्र, कोई प्राण और कोई कोई उसको नित्य ब्रह्म कर के समझते हैं। वह मनुष्य जो परमात्मा को सब में व्यापक देखता है स्वीकार करता है कि सब समान हैं, वह परमेश्वर में लवलीन हो जाता है—

'सर्वमात्मनि संपश्येत् सच्चासच्च समाहितम्। आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्॥
एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्[4]।'

अब देखना चाहिये कि ये सब मन्त्रों के प्रमाण स्वामीजी ने अग्नि शब्द के परमेश्वरार्थ में सिद्ध करने को दिये हैं, सो कैसे वृथा हैं।

स्वामीजी—'अग्निः पवित्रमुच्यते'[5] इसका उत्तर हम दे चुके और मनु के प्रमाण के विषय में पण्डितजी का लेख विपरीत है। क्योंकि जो आर्यों का वेदोक्त सनातन धर्म है उसको पण्डितजी के समान विचार करने वाले मनुष्यों ने उलटा दिया है। उस उलटे मार्ग को उलटा कर पूर्वोक्त सत्यधर्म का स्थापन मैं किया चाहता हूँ। इस से मेरी चतुराई तो ठीक हो सकती है, परन्तु पण्डितजी की चतुराई ठीक नहीं समझी जाती। क्योंकि मनु के प्रमाण का अभिप्राय पण्डितजी ने कुछ भी नहीं समझा। 'प्रशासितारं सर्वेषां'[6] इस पूर्वोक्त से पुरुष अर्थात् परमेश्वर की अनुवृत्ति 'एतमेके वदन्त्यग्निम्०।'[7] इस श्लोक में बराबर आती है। तथा—'अपरे ब्रह्म शाश्वतम्।'[8] इस वचन से भी ठीक-ठीक निश्चय है जिसका नाम परमेश्वर और ब्रह्म है। उसी के अग्न्यादि नाम भी हैं। इस सुगम बात को भी पण्डितजी ने नहीं समझा यह बड़े आश्चर्य की बात है। और—

'सर्वमात्मनि संपश्येत् सच्चासच्च समाहितः। सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः॥ १॥
आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्। आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्॥ २॥
एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना। स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्[9]॥ ३॥'

---

१. मैत्रायण्युप० ६।८॥ २. निरुक्त ५।६॥ ३. यहाँ पाठ कुछ भ्रष्ट है, अर्थ अस्पष्ट है।
४. मनु० १२।१२३॥ ५. निरुक्त ५।६॥ ६. मनु० १२।१२२॥
७. मनु० १२।१२३॥ ८. मनु० १२।१२३॥ ९. मनु० अ० १२, श्लोक ११८, ११९, १२५॥

इन श्लोकों से पण्डितजी ने ऐसा अर्थ जाना है कि परमेश्वर ही सब देवता हैं, और सब जगत् परमेश्वर में स्थित है। यह पण्डितजी का जानना बिल्कुल मिथ्या है। क्योंकि इन श्लोकों से इस अर्थ को नहीं सिद्ध करते। 'समाहितः' इस पद को अशुद्ध करके 'समाहितम्' यह पण्डितजी ने लिखा है, 'जो समाधान पुरुष असत्कारण और सत्कार्य्यरूप जगत् को आत्मा अर्थात् सर्वव्यापक परमेश्वर में देखे, वह कभी अपने मन को अधर्म युक्त नहीं कर सकता। क्योंकि वह परमेश्वर को सर्वज्ञ जानता है ॥ १ ॥

आत्मा अर्थात् परमेश्वर ही सब व्यवहार के पूर्वोक्त देवताओं को रचने वाला, और जिसमें सब जगत् स्थित है, वही सब मनुष्यों का उपास्य देव तथा सब जीवों को पाप पुण्य के फलों का देने हारा है ॥ २ ॥

इसी प्रकार समाधियोग से जो मनुष्य सब प्राणियों में परमेश्वर को देखता है, वह सब को अपने आत्मा के समान प्रेमभाव से देखता है। वही परमपद जो ब्रह्म परमात्मा है उसको यथावत् प्राप्त होके सदा आनन्द को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥'

अब देखना चाहिये कि मेरे वेदभाष्य पर बिना समझे जो पण्डितजी ने तर्क लिखे हैं, वे सब मिथ्या हैं, क्या इस बात को सब सज्जन लोग ध्यान देके न देख लेंगे।

पं० महेश०—फिर स्वामीजी लिखते हैं कि 'अग्नि परमेश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् न्यायकारी पिता पुत्र के समान मनुष्य को उपदेश करता है कि हे जीव! तू इस प्रकार कहो कि मैं अग्नि परमेश्वर की स्तुति करता हूँ। तिस पर जीव कहता है कि मैं अग्ने ईश्वर की स्तुति करता हूँ जो कि सर्वज्ञ, शुद्ध अविनाशी, अजन्मा, आदि अन्त रहित, सर्वव्यापक, सृष्टिकर्त्ता और स्वयं प्रकाशस्वरूप है, दूसरे की नहीं।'[1] इस विषय में स्वामीजी कोई प्रमाण नहीं देते हैं। संसार स्वामीजी की इस प्रेरणा के बताने का ऋणी है। परन्तु उनको ऐसी मधुरता से अपने भाष्य में लेख करना उचित नहीं।

अब 'अग्नमीळे०' 'पुरोहित' शब्द को देखना चाहिये। स्वामीजी अर्थ करते हैं—वह जो जीवों का पालन और रक्षा करता तथा हर एक को उत्पन्न करके सत्य विद्या का उपदेश करता और अपने उपासकों के हृदय में प्रेम भक्ति का प्रकाश करता है। स्वामीजी हित शब्द को 'डुधाञ्' धातु से बनाते हैं जिस से आगे 'क्त' है, इस में वह निरुक्त का प्रमाण धरते हैं।

'पुरोहितः पुर एनन्दधाति०।'[2] यह नहीं समझा जा सकता कि स्वामीजी पुरोहित शब्द से अपने अर्थ कैसे निकालते हैं। व्याकरण की रीति से इस 'हित' शब्द के अर्थ आगे रक्खे के हैं, स्वामीजी लेते हैं कि जो कुछ रखता है। व्याकरण की रीति से हित शब्द डुधाञ् धातु का कर्माधार गौण क्रिया है, सकर्मक गौण क्रिया नहीं। स्वामीजी उसे व्याकरण के सूत्र से सिद्ध करदें परन्तु इस बात का दावा किया जा सकता है कि हित शब्द किसी उदाहरण से सकर्मक गौण क्रिया सिद्ध नहीं कर सकते।

स्वामीजी—जो अग्नि नाम परमेश्वर का लिखा है, उसके प्रमाण उसी मन्त्र के भाष्य में यथावत् लिखे हैं, वहाँ ध्यान देकर देखने से मालूम हो जायेंगे। तथा 'पुरोहित' शब्द पर जो मैंने प्रमाण वा उसका अर्थ लिखा है, सो भी वहाँ देखने से ठीक-ठीक मालूम होगा कि जैसा व्याकरण और निरुक्तादि से सिद्ध है। पण्डितजी 'पुरोहित' शब्द को कर्मवाच्य कृदन्त मानते हैं, किन्तु कर्तृवाच्य कृदन्त नहीं, यह उन का कथन ऐसा है कि जैसा प्रमत्तगीत; अर्थात् किसी ने किसी से प्रयाग का मार्ग पूछा—उसने उत्तर दिया कि यह द्वारिका का मार्ग सूधा जाता है।

---

१. यह वेदभाष्य के नमूने के अङ्क में प्रथम सूक्त के प्रथम मन्त्र के संस्कृत भाष्य का अनुवाद है।
२. निरुक्त २।१२ ॥

'पुरोहित' शब्द के साधुत्व में यहाँ व्याकरण का यह सूत्र उपयोगी है—

'आदिकर्मणि क्तः कर्त्तरि च ॥ अष्टा० अ० ३ । पा० ४ । सू० ७१ ॥' इस से आदिकर्मविषयक जो क्त प्रत्यय है वह कर्त्ता में सिद्ध है। क्योंकि सकल पदार्थों का उत्पादन और विज्ञानादि दान अर्थात् वेद द्वारा सकल पदार्थ विज्ञान करा देना यह परमेश्वर का आदि-कर्म है। इस के न होने से सत्यासत्य का विवेक, और विवेक के न होने से परमेश्वर को जानना और परमेश्वर के न होने से उसकी भक्ति होना, ये सब परस्पर असम्भव हैं।

निरुक्तकार ने भी 'पुरोहित' शब्द में 'डुधाञ् से कर्त्ता में 'क्त' प्रत्यय मान कर परमेश्वर का ग्रहण किया है। वहाँ अन्वादेश[1] इसी अभिप्राय में है कि परमेश्वर सब जगत् को उत्पन्न करके उसका धारण और पोषण करता है। उसी परमेश्वर को संसारी जन इष्टदेव मान कर अपने आत्माओं में धारण करते हैं। देखिये वेदों में अन्यत्र भी—

'विश्वस्मा उग्रकर्मणे पुरोहितः ॥ ऋ० १ । सू० ५५ । मं० ३ ॥' यह उदाहरण भी प्रत्यक्ष है।

और जो पण्डितजी—'यद्देवापिः०'[2] इस मन्त्र में पुराण की आख्यायिका झूठी कहते हैं, सो उनकी बड़ी भूल है। क्योंकि उनको इस मन्त्र के अर्थ की खबर भी नहीं है। और जो इसके ऊपर निरुक्त लिखा है, उसका भी ठीक-ठीक अर्थ नहीं जानते। क्योंकि पण्डितजी ने 'शन्तनु' शब्द से भीष्मजी का पिता समझ लिया है, जो 'शन्तनु' शब्द का निरुक्त में अर्थ लिखा है, उसकी खबर भी नहीं है—

'शन्तनुः शं तनोस्त्विति वा शमस्मै तन्वा अस्त्विति वा ॥[3] इसका यह अर्थ है कि (शं) कल्याणयुक्त तनु शरीर होता है जिससे वह परमेश्वर 'शन्तनु' कहाता है। और जिस शरीर से जीव कल्याण को प्राप्त होता है, इसलिये उस जीव का नाम भी 'शन्तनु' है। इस से पण्डितजी ने इस में जो कथा लिखी सो सब व्यर्थ है।

अब 'यज्ञ' शब्द पर पण्डितजी लिखते हैं कि यज्ञ और देव शब्द को मिला करके लिया है, सो बात नहीं है। क्योंकि यह लेखक और यन्त्रालय का दोष है।[4] 'यज्ञस्य' यह शैषिकी षष्ठी है, पुरोहित, देव, ऋत्विक्, होता और रत्नधातम ये सब यज्ञ के सम्बन्धी हैं और अग्नि के विशेषण हैं। यज्ञ शब्द का अर्थ जैसा भाष्य में लिया है, वैसा समझ लेना चाहिये और निरुक्तकार भी वैसा ही अर्थ लेते हैं क्योंकि प्रख्यात अर्थात् प्रसिद्ध जो तीन प्रकार का वेदभाष्य में यज्ञ लिखा है, वह निरुक्तकार के प्रमाण से युक्त है।

और जो 'गौ' शब्द का दृष्टान्त दिया सो भी नहीं घट सकता क्योंकि प्रकरण, आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति, तात्पर्य, संज्ञा आदि कारणों से शब्द का अर्थ लिया जाता है और जो 'देव' शब्द के विषय में पण्डितजी ने लिखा है कि स्वामीजी ने जय की इच्छा करने वाले कहाँ से वा कैसे लिये हैं, इसका उत्तर यह है कि 'दिवु' का धात्वर्थ विजिगीषा भी है और जो यज्ञ में विघ्नकारक दुष्ट प्राणी और कामक्रोधादि

---

१. पुर एनं दधाति (निरुक्त २।१२)। यहाँ 'एनं' अन्वादेश में प्रयुक्त होने वाला पद है।

२. ऋ० १० । ९८ । ७ ॥ निरुक्त २ । १२ ॥

३. निरुक्त २ । १२ ॥

४. जो लोग ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में लिपिकर वा मुद्रण आदि के दोषों को भी स्वीकार नहीं करते और उनको शुद्ध करने का भी विरोध करते हैं उन्हें इस लेख पर ध्यान देना चाहिए। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं ऋषि दयानन्द के लेख में उनकी अस्वस्थता आदि के कारण शारीरिक मानसिक उद्विग्नता से भी लेखन प्रमादजन्य दोष हुए हैं। इस बात को ऋषि दयानन्द ने संस्कृत वाक्यप्रबोध में हुई अशुद्धियों का कारण विवेचन करते हुए स्वयं स्वीकार किया है। देखो मुंशी बख्तावर सिंह के नाम श्री शु० १३ बुध सं० १९३७ का पत्र—'इस अशुद्धि के तीन कारण हैं—एक शीघ्र बनना, मेरा चित्त स्वस्थ न रहना। दूसरा भीमसेन के आधीन शोधने का होना और मेरा न देखना न प्रूफ शोधना। तीसरा छापेखाने में उस समय कोई भी कम्पोजीटर बुद्धिमान् न होना, लैम्पों की न्यूनता होनी।' ऋ. द. के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ २२१ द्वि० सं०।

शत्रु हैं, उनका जीतने वाला वही परमेश्वर देव है क्योंकि त्रिविध यज्ञ का रक्षक, इष्ट और पूज्यदेव परमेश्वर ही है।

'पुरोहितो व्याख्यातो यज्ञश्च'[1] इसके अर्थ में पण्डितजी की बहुत भूल है क्योंकि निरुक्तकार कहते हैं कि हमने पुरोहित और यज्ञ शब्द की पूर्व[2] व्याख्या कर दी है और पण्डितजी कहते हैं कि 'निरुक्त के तीसरे अध्याय के १९ खण्ड में 'यज्ञ' शब्द को व्याकरण से सिद्ध किया है,' सो झूठ है क्योंकि वहाँ अर्थ[3] की निरुक्तिमात्र कही है, सिद्धि कुछ भी नहीं और 'जो निघण्टु के अ० ३। खं० १७ प्रमाण से यज्ञ के अनेक नाम लिखे हैं कि बहुधा वे होमादिक के विधान में आते हैं और स्वामीजी के अर्थों में उनमें से एक भी नहीं मिलता,' यह बात पण्डितजी की भ्रान्तियुक्त है क्योंकि उन १५ नामों का अर्थ मेरे अर्थ के साथ बराबर मिलता है क्योंकि मैंने यज्ञ शब्द का अर्थ त्रिविध लिया है, इसके साथ उनको मिला कर देखो।

और पण्डितजी निरुक्तकार के विषय में कहते हैं कि 'देव' शब्द के अर्थ देने वाला प्रकाश करने वाला और स्वर्ग में रहने वाला ये तीन ही हैं। इस देव शब्द विषयक निरुक्त का अर्थ भूमिका के तीसरे अङ्क के ६३ पृष्ठ की ५ पंक्ति[4] से देख लेना चाहिये। निरुक्तकार—'यो देवः सा देवता०'[5] इत्यादि जो पाँच अर्थ[6] लेते हैं, उनको पण्डितजी ठीक-ठीक नहीं समझे कि निरुक्तकार कितने अर्थ लेते हैं। इस में पण्डितजी की परीक्षा हुई कि वे निरुक्तकार का अभिप्राय ठीक नहीं जानते हैं।

पं० महेश०—इसी प्रकार स्वामीजी 'ऋत्विजम्' 'होतारम्' और 'रत्नधातमम्' शब्दों के कई कई अर्थ अद्‌भुत रीति से करते हैं परन्तु क्योंकि उनकी भूल 'यज्ञस्य', 'देवं' शब्दों से सिद्ध कर चुका हूं। इसलिए विशेष लिखना वृथा है। स्वामीजी 'ऋत्विजम्' का अर्थ करते हैं कि जिसकी सब ऋतुओं में पूजा की जाय परन्तु सबके प्रामाणिक अर्थ इस शब्द के चढ़ाने वाले अर्थात् भेंट करने वाले के हैं और न कि जिसको भेंट चढ़ाई जाय। यह बात भी निरुक्त की साक्षी से सिद्ध है कि जिस का स्वामीजी भी प्रमाण मानते हैं।

स्वामीजी—अब पण्डितजी 'ऋत्विज्' शब्द पर लेख करते हैं, सो भी ठीक-ठीक नहीं वे समझे।

'कृल्ल्युटो बहुलम्'[7] इस वार्त्तिक का अर्थ भी नहीं समझे, क्योंकि इस वार्त्तिक में कृत्संज्ञक प्रत्यय कर्म में भी उन शब्दों में माने जाते हैं जो कि वेदादि सत्य शास्त्रों में प्रयुक्त हों। इसलिए इस वेदभाष्य में जो इसका अर्थ लिखा गया है सो व्याकरण से सिद्ध है, परन्तु पण्डितजी 'ऋत्विज्' शब्द का अर्थ नहीं समझे।

पं० महेश०—स्वामीजी 'होतारं' शब्द के जो कई अर्थ करते हैं, उनमें से एक 'आदातारं' अर्थात् ग्रहण करने वाले के हैं, यह भिन्न पद है कि जिनसे यह अर्थ लिये जाते हैं। 'होतारं' जो 'हु' से बनता है, जिसके अर्थ अगले नियम धातुपाठ के से 'अदन' होते हैं और इस ग्रन्थ को स्वामीजी मानते हैं। जैसे—'हु दानादनयोरादाने चेत्येके।' 'हु' धातु के अर्थ दान अदन और किसी के मत में आदान अर्थात् ग्रहण करना, अदन का अर्थ ग्रहण वा आदान अर्थ ग्रहण करना है। वेदान्तदर्शन का एक सूत्र है—'अत्ता चराचरग्रहणात्।'[8]

---

१. निरुक्त ७। १५॥ २. निरुक्त २। १२ में।

३. निरुक्त शास्त्र अर्थनिर्वचन विधायक है शब्द निर्वचन विधायक नहीं, यह हम पूर्व भी लिख चुके हैं।

४. रा. ला. क. ट्र. संस्क० पृष्ठ ७० पं. १६ से। ५. निरुक्त ७। १४॥

६. देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा। निरुक्त ७। १४ में चार अर्थ हैं। यहाँ भी ऋषि दयानन्द ये देव के अर्थ निर्वचन हैं यह स्पष्ट कहते हैं।

७. अष्टा० ३। ३। ११३ के भाष्य में। ८. वेदान्त १। २। ९॥

इस प्रमाण से सिद्ध होता है कि अदन का अर्थ ग्रहण करना है और फिर धातुपाठ के उसी नियम से सिद्ध होता है कि अदन शब्द जो उसमें आया है, उसके अर्थ आदान के नहीं हो सकते, किन्तु उसके अर्थ कुछ और ही हैं, नहीं तो उक्त नियम के अनुसार 'आदाने चेत्येके' कैसे बन सकता। किसी के मत में 'हु' धातु का अर्थ भी आदान होता है, इससे मालूम हो गया कि धातुपाठकार ने अदन—आदान अर्थ में लाने का कभी ख्याल भी नहीं किया। अर्थात् उस अर्थ में कि जिसमें स्वामीजी ने लिया है।

इस सूत्र में कदाचित् स्वामीजी इस बात को सिद्ध कर सकें कि अदन—आदान के अर्थ में आता है तो यह वेदान्तदर्शन का सूत्र ही हो, यह माना, फिर भी वह धातुपाठ के नियम की वृत्ति में नहीं लग सकता तथा पण्डितजी के प्रमाण की पुष्टि कभी नहीं कर सकता। अब इसलिये इस बात के कहने की आवश्यकता नहीं है कि वेदान्त सूत्र भी जिसको कि स्वामीजी मानते हैं, अदन को आदान अर्थ में सिद्ध नहीं कर सकता है, यह तमाशे की बात है कि स्वामीजी ने 'हु' धातु से अर्थ लेने की अनेक युक्तियाँ घूस-घूम कीं, परन्तु न मालूम स्वामीजी 'होतारम्' शब्द का अर्थ ग्रहण करने वा लेने में ऐसे अधीर क्यों हो गये। निस्सन्देह ग्रहण करने का जो गुण है सो ईश्वर में कभी नहीं लग सकता।

अब मैं स्वामीजी के एक ईश्वरप्रतिपादन विषय की परीक्षा कर चुका कि जिसको पढ़ने वाले समझ लेंगे।

स्वामीजी—अब 'होता' शब्द पर पण्डितजी के लेख की परीक्षा करता हूँ। पण्डितजी को यह शङ्का हुई है कि अदन का अर्थ जब ग्रहण लेंगे, तब आदान व्यर्थ हो जायगा परन्तु इसमें यह बात समझी जाय कि जब होता शब्द परमेश्वर का विशेषण है तब क्या किसी मनुष्य को शङ्का न होगी कि परमेश्वर भी अत्ता होने वाला होने से जगत् का 'भक्षणकारक' होगा। इस की निवृत्ति के लिये आदान का अर्थ धारण किया है। जो इसके तीन अर्थ हैं उनमें से प्रथम अर्थ को लेकर होता शब्द के अर्थ ईश्वर को जगत् का भक्षण करने वाला कोई मनुष्य न माने, क्योंकि ईश्वर में यह अर्थ नहीं घट सकता। जो निराकार और सर्वव्यापक है, वह भक्षणादि कैसे कर सकता है। हाँ, धारण शक्ति से व्यापक होके ग्रहण अर्थात् धारण तो कर रहा है। इसलिए इस शङ्का का निवारण इस अर्थ के बिना नहीं हो सकता।

और जो पण्डितजी ने लिखा कि धातुपाठ के कर्त्ता का यह अभिप्राय नहीं है, सो भी पण्डितजी की समझ उलटी है। क्योंकि जब 'हु' धातु का केवल ईश्वरार्थ के साथ ही प्रयोग हो और अन्यत्र न हो, तब यह दोष [हो सकता है, परन्तु] 'देवदत्तो भोजनं जुहोत्यत्तीत्यर्थः' ऐसे वाक्य में 'अदन' शब्द भक्षण के अर्थ में ही आता है। इस अभिप्राय से पाणिनिमुनि ने 'हु' धातु तीन अर्थों में लिखा है। 'आदाने चेत्येके' इसके कहने से स्पष्ट मालूम होता है कि धातुपाठकार के मत में 'हु' धातु दान और अदन इन दोनों अर्थों में है और अदन अर्थ से भक्षण तथा आदान दोनों ले लिये जावेंगे, परन्तु कोई आचार्य आदान को पृथक् मानते हैं। धातुपाठकार नहीं। इसीलिये अर्थ का पृथक् ग्रहण किया है। इससे जान लो धातुपाठकार का यह ध्यान होता तो स्वयं दान और अदन में आदान का पाठ क्यों नहीं कर लेते। इससे धातुपाठ की वृत्ति[1] में ठीक-ठीक मेरा अभिप्राय मिलता और मेरे ही अर्थ की पुष्टि करता है, पण्डितजी की नहीं।

इसी प्रकार वेदान्त का सूत्र भी मेरे अर्थ की पुष्टि करता है। पण्डितजी की कुछ भी नहीं, क्योंकि 'अत्ता' शब्द का ग्रहण करने वाले के अर्थ में वेदान्त सूत्रकार का अभिप्राय है। 'आदान' शब्द के अर्थ के लिये नहीं, क्योंकि 'आदान' शब्द तो स्वयं ग्रहण करने अर्थ में है। इसलिये इस सूत्र आदि प्रमाणों के

१. प्रतीत होता है ऋषि दयानन्द अर्थनिर्देश को ही वृत्ति मानते हैं, और यह अर्थनिर्देश धातुपाठकार पाणिनि का है यह स्वीकार करते हैं।

बिना 'अत्ता' शब्द को ग्रहणार्थ में कोई कभी नहीं ला सकता। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि पण्डितजी अपनी निर्मूल बात को समूल करने के लिये बहुत से यत्न करते हैं, परन्तु क्या झूठा सच्चा और सच्चा झूठा कभी हो सकता है।

इतने ही लेख से पण्डितजी की विद्या की परीक्षा विद्वान् लोग कर लेवें। और पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्नजी की संस्कृत में विद्वत्ता कितनी है इसको समझ लेवें कि इन्होंने क्या केवल विद्याहीन पौराणिक लोगों का वेदार्थविरुद्ध टीका और वैसे ही अँग्रेजी में जो वेदों पर मूलार्थ विरुद्ध उलटे तरजुमे हैं, उनके सिवाय ब्रह्माजी से लेके जैमिनि मुनि पर्य्यन्त के किये वेदों के व्याख्यान ग्रन्थों को कुछ भी कभी देखा वा समझा है। नहीं तो ऐसी व्यर्थ कल्पना क्यों करते। हाँ मैं यह कहता हूँ कि—

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं स तस्य निन्दां सततं करोति।
यथा किरातः करिकुम्भजाता मुक्ताः परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाः ॥[1]

'चोर कोटपाल को दण्डे' अर्थात् जो सच्चे को झूठा दोष लगाते हैं, वे ऐसे दृष्टान्त के योग्य होते हैं कि जो जिस के उत्तम गुण नहीं जानता वह उसकी निन्दा निरन्तर करता है। जैसे कोई जङ्गली मनुष्य गजमुक्ताओं को हाथ में लेकर उनको छोड़ के घुंघुची का हार बनाकर गले में पहन कर फूला-फूला फिरे, वैसे जिन्होंने मेरे बनाये भाष्य पर विरुद्ध बात लिखी हैं। क्या इस पत्र को जो-जो बुद्धिमान् लोग देखेंगे वे जैसी उनकी पण्डिताई की खण्डबण्ड दशा को न जान लेंगे।

परन्तु मैं 'यह प्रसिद्ध विज्ञापन देता हूँ कि ग्रिफिथ साहब आदि अंग्रेज, पं० गुरुप्रसाद और महेशचन्द्र न्यायरत्नजी और मैं कभी सम्मुख बैठ कर वेदविषय में वार्तालाप करें, तब सब को विदित हो जावे कि विरुद्धवादियों को वेद के एक मूल मन्त्र का भी अर्थ ठीक-ठीक नहीं आता। यह बात सब को विदित हो जावे। मैं चाहता हूँ कि ये लोग मेरे पास आवें वा मुझको अपने पास बुलावें तो ठीक-ठीक विद्या और अविद्या का निश्चय हो जावे कि कौन पुरुष वेदों को यथार्थ जानता है, और कौन नहीं। क्योंकि— 'विद्यादम्भः क्षणस्थायी।'[2] सब का दम्भ कुछ दिन चलता जाता, परन्तु विद्या का दम्भ क्षणमात्र में छूट जाता है॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृतशङ्कासमाधानयुक्तपत्रं पूर्तिमगात् ॥

संवत् १९३४, कार्त्तिक शुक्ला २ ॥

१. यह श्लोक चाणक्य नीति का है। २. सुभाषित संग्रह।

श्री राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द (काशी) के प्रश्नों के ऋषि दयानन्द द्वारा प्रदत्त उत्तर

प्रथम पत्र[1]

॥ ओम् ॥

सं० १९३७ चैत्र सुदी १२ गुरुवार।

राजा शिवप्रसाद जी आनन्दित रहो।

आप का चैत्र शुक्ल ११ बुधवार का लिखा पत्र मेरे पास आया। देख के आप का अभिप्राय विदित हुआ। उस दिन आप से और मुझसे परस्पर जो-जो बातें हुई थीं वे तब आपको अवकाश कम होने से मैं न पूरी बात कह सका और न आप पूरी बात सुन सके, क्योंकि आप उन साहबों से मिलने को आए थे। आप का वही मुख्य प्रयोजन था। पश्चात् मेरा और आप का कभी समागम न हुआ जो कि मेरी और आप की बातें उस विषय में परस्पर होतीं। अब मैं आठ दस दिनों में पश्चिम को जाने वाला हूँ। इतने समय में जो आप को अवकाश हो सके तो मुझसे मिलिये। फिर भी बात हो सकती है। और मैं भी आप को मिलता, परन्तु अब मुझको अवकाश कुछ भी नहीं है इससे मैं आप से नहीं मिल सकूंगा क्योंकि जैसा सम्मुख में परस्पर बातें होकर शीघ्र सिद्धान्त हो सकता है, वैसा लेख से नहीं, इसमें बहुत काल की अपेक्षा है।

आप का प्रश्न	मेरा उत्तर
१. आप का मत क्या है ?	१. वैदिक।
२. आप वेद किसको मानते हैं ?	२. संहिताओं को।
३. क्या उपनिषदों को वेद नहीं मानते ?	३. मैं वेदों में एक ईशावास्य को छोड़ के अन्य उपनिषदों को नहीं मानता[2]। किन्तु अन्य सब उपनिषद् ब्राह्मण ग्रन्थों में हैं। वे ईश्वरोक्त नहीं हैं।
४. क्या आप ब्राह्मण पुस्तकों को वेद नहीं मानते ?	४. नहीं, क्योंकि जो ईश्वरोक्त है वही वेद होता है जीवोक्त नहीं। जितने ब्राह्मण ग्रन्थ हैं वे सब ऋषि मुनि प्रणीत और संहिता ईश्वर प्रणीत है। जैसा ईश्वर के सर्वज्ञ होने से तदुक्त निर्भ्रान्त सत्य और मत के साथ स्वीकार करने योग्य होता है

१. द्रष्टव्य ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ १८५ (द्वि० सं०)।

२. अर्थात् ईशोपनिषद् को स्वामी जी महाराज यजुर्वेद के अन्तर्गत मानते हैं। इसी कारण पृष्ठ ३६ पंक्ति २, ३ में जो १० उपनिषदें गिनाई हैं उन में ईश का उल्लेख नहीं है। दश संख्या की पूर्ति "मैत्रेयी" को गिनकर की है। यह भी ध्यान रहे कि स्वामी जी महाराज ईशोपनिषद् के माध्यन्दिन संहितानुसारी पाठ को ही वेदान्तर्गत मानते हैं। उसी का उन्होंने भाष्य किया है। काण्व संहिता को उसकी शाखा अर्थात् व्याख्यात्मक पाठ मानते हैं। इसलिये उनके मत में काण्व शाखानुसारी ईशोपनिषद् माध्यन्दिन ईशोपनिषद् की व्याख्या रूप होने से उसकी पृथक् गणना की कोई आवश्यकता नहीं रहती। सम्पा०।

वैसा जीवोक्त नहीं हो सकता क्योंकि वे सर्वज्ञ नहीं। परन्तु जो वेदानुकूल ब्राह्मण ग्रन्थ हैं उनको मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूं। वेद स्वतः प्रमाण और ब्राह्मण परतः प्रमाण हैं। इससे जैसे वेद विरुद्ध ब्राह्मण ग्रन्थों का त्याग होता है वैसे ब्राह्मण ग्रन्थों से विरुद्धार्थ होने पर भी वेदों का परित्याग कभी नहीं हो सकता क्योंकि वेद सर्वथा सबको माननीय ही हैं।[1]

अब रह गया यह विचार कि जैसा संहिता ही को ईश्वरोक्त निर्भ्रान्त सत्य वेद मानना होता है वैसा ब्राह्मण ग्रन्थों को [क्यों] नहीं, इसका उत्तर मेरी बनाई ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के नववें पृष्ठ से ९ लेके ८८ पृष्ठ तक वेदोत्पत्ति, वेदों का नित्यत्व, और वेद संज्ञा विचार विषयों को देख लीजिये। वहाँ मैं जिसको जैसा मानता हूँ सब लिख रक्खा है। इसी को विचार पूर्वक देखने से सब निश्चय आपको होगा कि इन विषयों में जैसा मेरा सिद्धान्त है वैसा ही जान लीजियेगा॥

(दयानन्द सरस्वती) काशी।

[द्वितीय पत्र][2]

राजा शिवप्रसाद जी आनन्दित रहो!

आपका पत्र मेरे पास आया। देखकर अभिप्राय जान लिया। इससे मुझको निश्चय हुआ कि आपने वेदों से लेके पूर्वमीमांसा पर्यन्त[3] विद्या पुस्तकों के मध्य में से किसी भी पुस्तक के शब्दार्थ सम्बन्धों को जाना नहीं है। इसलिये आपको मेरी बनाई भूमिका का अर्थ भी ठीक-ठीक विदित नहीं हुआ, जो आप मेरे पास आके समझते तो कुछ समझ सकते। परन्तु जो आपको अपने प्रश्नों के प्रत्युत्तर सुनने की इच्छा हो तो स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती व बालशास्त्री जी को खड़ा करके सुनियेगा तो भी आप कुछ-कुछ समझ लेंगे, क्योंकि वे आपको समझावेंगे तो कुछ आशा है समझ जायँगे। भला विचार तो कीजिये कि आप उन पुस्तकों के पढ़े विना वेद और ब्राह्मण पुस्तकों का कैसा आपस में सम्बन्ध, क्या-क्या उनमें हैं और स्वतः प्रमाण तथा ईश्वरोक्त वेद और परतः प्रमाण और ऋषि मुनि कृत ब्राह्मण पुस्तक हैं इन हेतुओं से क्या-क्या सिद्धान्त सिद्ध होते और ऐसे हुए विना क्या-क्या हानि होती है इन विचारहस्य की बातों को जाने विना आप कभी नहीं समझ सकते।

(दयानन्द सरस्वती)

सं० १९३७ मि० वै० व० सप्तमी शनिवार

---

१. प्रश्न और उत्तर का भाग एक दो शब्दों के अन्तर से भ्रमोच्छेदन में भी छपा है। सम्पा०।

२. यह पत्र ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ १८७ (द्वि० सं०) पर छपा है।

३. इस स्थल पर राजा जी ने अपने निवेदन में एक टिप्पण दिया है। उसमें उन्होंने इस बात पर हास्य किया है कि स्वामीजी महाराज पूर्वमीमांसा पर्यन्त ही पढ़े थे। उन्होंने उत्तरमीमांसा न देखी थी। राजा जी इस पर बड़े प्रसन्न दीखते हैं, परन्तु यह उनका अज्ञान है। उन्हें यह ज्ञान नहीं कि अन्तिम आर्ष ग्रन्थकार जैमिनि मुनि हुए हैं। उन्हीं का बनाया पूर्वमीमांसा है। ग्रन्थ गणना में चाहे वह पहले गिना जाए वा पीछे, परन्तु रचयिता की दृष्टि से जैमिनि ही अन्तिम हैं। अत एव ऋषि का उपर्युक्त लेख सत्य ही है। सम्पा०।

॥ ओ३म् ॥

भ्रमोच्छेदन

(अविद्वानों का)*

मैंने राजा शिवप्रसाद सितारैहिन्द की बुद्धि और चतुराई की प्रशंसा सुन के चित्त में चाहा कि कभी उनसे समागम होकर आनन्द होवे। जैसे पूर्व समय में बहुत ऋषि मुनि विद्वानों के बीच प्रज्ञासागर बृहस्पति महर्षि हुए थे, क्या पुनरपि वे ही महा अविद्यान्धकार के प्रचार से नाना प्रकार के अन्योन्य विरुद्ध मत-मतान्तर के इस वर्त्तमान समय में शरीर धारण करके प्रकट तो नहीं हुए हैं ?

देखना चाहिये कि जैसा उनको मैं सुनता हूं, वैसा ही वे हैं वा नहीं, ऐसी इच्छा थी। यद्यपि मैंने संवत् १९२६ से लेके पाँच वार[1] काशी में जाकर निवास भी किया, परन्तु कभी उनसे ऐसा समागम न हुआ † कि कुछ वार्तालाप होता। मैंने प्रस्तुत संवत् १९३६ कार्त्तिक सुदी १४ गुरुवार[2] को काशी में आकर महाराजे विजयनगराधिपति के आनन्दबाग में निवास किया। इतने में मार्गशीर्ष सुदी[3] में अकस्मात् राजा शिवप्रसादजी प्रसिद्ध एस० एच० कर्नल ऑलकाट साहब और एच० पी० मेडम ब्लेवेट्स्की को मिलने के लिये आनन्दबाग में आ, उनने मुझ से मिलकर कहा कि मैं उक्त साहब और मेडम से मिला चाहता हूँ। सुनकर मैंने एक मनुष्य को भेज राजा साहब की सूचना कराई और जब-तक उक्त साहब के साथ राजाजी न उठ गये तबतक जितनी मैं अपने पत्र में लिख चुका हूँ[4] उनसे बातें हुईं, परन्तु शोक है कि जैसा मेरा प्रथम निश्चय राजाजी पर था वैसा उनको न पाया ‡। मन में विचारा कि जितनी दूसरे के मुख से बात सुनी जाती है, सो सब सच नहीं होती।

राजाजी लिखते हैं कि—'स्वामीजी की बात सुनकर मैं भ्रम में पड़ गया'।

---

* जो राजा शिवप्रसादजी अपने लेख पर स्वामी विशुद्धानन्दजी का हस्ताक्षर न कराते तो मैं इस पर एक अक्षर भी न लिखता, क्योंकि उनको तो संस्कृत विद्या में शब्दार्थ सम्बन्धों के समझने का सामर्थ्य ही नहीं है। इसलिये जो कुछ इस पर लिखता हूँ सो सब स्वामी विशुद्धानन्दजी की ओर ही समझा जावे ॥

† एक बार सय्यद अहमदखां सदरसदूरजी की कोठी पर दूर से देखा था, पर वार्तालाप नहीं हुआ था ॥

‡ राजाजी की वाचालता बहुत बड़ी और समझ अति छोटी देखी ॥

१. प्रथम वार कार्त्तिक कृष्णा २, ३ सं० १९२६, द्वितीय वार चैत्र शुक्ल सं० १९२७, तृतीय वार फाल्गुन सं० १९२८, चतुर्थ वार ज्येष्ठ सं० १९३१, पाँचवीं वार ज्येष्ठ कृष्ण ४ सं० १९३३ ॥

इस ग्रन्थ में चिह्नों वाली टिप्पणी ग्रन्थकार की हैं और संख्या वाली हमारी हैं। यु० मी०

२. ऋ० द० के पत्रव्यवहार पृष्ठ १६९ (द्वि० सं०) में कार्त्तिक शुक्ला ८ शुक्रवार का एक पत्र है। वह काशी से लिखा गया है। इस विषय में पत्र व्यवहार की टिप्पणी द्रष्टव्य है। सम्भव है कार्त्तिक सुदि १४ से पूर्व १२-१३ दिन के लिए बीच में काशी से बाहर गए हों। अथवा इससे पूर्व आनन्द बाग में न ठहर कर अन्यत्र ठहरे हों और यहाँ आनन्द बाग में ठहरने की तिथि का उल्लेख हो। है यह बात विचारणीय।

३. यहाँ तिथि की संख्या '३' छूट गई है। देवेन्द्रनाथ विरचित जीवन-चरित में राजा शिवप्रसाद का १६ दिसम्बर को आना लिखा है। उस दिन मार्गशीर्ष शुक्ला तृतीया थी। द्र० जी. च. पृष्ठ ५९३ (प्र० सं०)।

४. चैत्र सुदी १२ सं० १९३७ का पत्र, यह पूर्व छापा गया है, पाठक उसे देखें (पृ० ५८-५९)।

यहाँ बुद्धिमानों को विचारना चाहिये कि क्या मेरी बात का सुनना ही राजाजी को बड़े सन्देह में पड़ने का निमित्त है, और उनकी कम समझ और आलस्य कारण नहीं है ? * जब कि उनको सन्देह ही छुड़ाना था तो मेरे पास आके उत्तर सुनके यथाशक्ति सन्देह निवृत्त कर आनन्दित होना योग्य न था ? जैसा कोमल लेख उनके पत्र में है, वैसा भीतर का अभिप्राय नहीं †, किन्तु इसमें प्रत्यक्ष छल ही विदित होता है।

देखो, मार्गशीर्ष [सुदी १४] से लेके वैशाख कृष्ण एकादशी बुधवार पर्यन्त सवा चार मास[1] उनके मिलने के पश्चात् मैं और वे काशी में निवास करते रहे, क्यों न मिलके सन्देह निवृत्त किये ? जब मेरी यात्रा सुनी, तभी पत्र भेजके प्रत्युत्तर क्यों चाहे ? मेरे चलने के समय प्रश्न करना, मेरे बुलाये पर भी उत्तर सुनने न आना,[2] सवाचार महीने पर्यन्त चुप होके बैठे रहना और मेरे काशी से चले आने पर अपनी व्यर्थ बड़ाई के लिये पुस्तक छपवाकर काशी में और जहाँ तहाँ भेजना कि काशी में कोई भी विद्वान् स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने में समर्थ न हुआ किन्तु एक राजा शिवप्रसादजी ने किया ! ऐसी प्रसिद्धि होने पर सब लोग मुझको विद्वान् और बुद्धिमान् मानेंगे, ऐसी इच्छा का विदित कराना आदि हेतुओं से क्या उनकी अयोग्यता की बात नहीं है ‡। भला ऐसे मनुष्यों से किसी विद्वान् को उचित है कि बात और शास्त्रार्थ करने में प्रवृत्त होवे ?

ऐसे कपट छल के व्यवहार [करने वाले के साथ व्यवहार] न करने में मनुजी की भी साक्षी अनुकूल है—

अधर्मेण तु यः प्राह यश्चाऽधर्मेण पृच्छति । तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति ॥ १ ॥[3]

अर्थ—(यः) जो (अधर्मेण) अन्याय, पक्षपात, असत्य का ग्रहण, सत्य का परित्याग, हठ, दुराग्रह से वा जिस भाषा का आप विद्वान् न हो उसी भाषा के विद्वान् के साथ शास्त्रार्थ किया चाहे, और उस भाषा के सच झूठ की परीक्षा करने में प्रवृत्त होवे, और कोई प्रतिवादी सत्य कहे उसका निरादर करे, इत्यादि अधर्म कर्म से युक्त होकर छल कपट से + (पृच्छति) पूछता है, (च) और (यः) जो (अधर्मेण) पूर्वोक्त प्रकार से (प्राह) उत्तर देता है, ऐसे व्यवहार में विद्वान् मनुष्य को योग्य है कि न उससे पूछे और न उसको उत्तर देवे। जो ऐसा नहीं करता तो पूछने वा उत्तर देने वाले दोनों में से एक मर जाता है। (वा) अथवा (विद्वेषम्) अत्यन्त विरोध को (अधि गच्छति) प्राप्त होकर दोनों दुःखित होते हैं ॥ १ ॥

जब इस वचनानुसार राजाजी को अयोग्य जानकर लिख के उत्तर नहीं दिये ÷ तो फिर क्या मैं

---

* कोई कितना ही बड़ा विद्वान् हो परन्तु अविद्वान् मनुष्य को विद्या की बातें बिना पढ़ाये कभी नहीं समझा सकता, न वह बिना पढ़े समझ सकता है ॥

† हाथी के खाने के दाँत भीतर और दिखाने के बाहर होते हैं ॥

‡ जो राजाजी प्रश्नों के उत्तर चाहते तो ऐसी अयोग्य चेष्टा क्यों करते। जब मैंने उनकी अन्यथा रीति जानी, तभी उनसे पत्र व्यवहार आगे को न चलाया, क्योंकि उनसे संवाद चलाना व्यर्थ देखा ॥

+ जिसके आत्मा में और, और जिसके बाहर और होवे वह 'छली' कहाता है ॥

÷ जो जिस बात के समझने और जिस काम के करने में सामर्थ्य [नहीं] रखता, वह उसका अधिकारी नहीं हो सकता ॥

१. यह काल चार मास १३ दिन होता है। देवेन्द्र बाबू विरचित जीवन-चरित के अनुसार बीच में प्रयाग भी गए थे (पृष्ठ ५९७ प्र. सं.)। उसका काल निकाल कर यह समय लिखा गया है ऐसा प्रतीत होता है।

२. इस विषय में देवेन्द्र बाबू विरचित जीवन-चरित पृष्ठ ६०६ (प्र. सं.) द्रष्टव्य है।

३. मनु २।१११ ॥ तत्र 'तु' स्थाने 'च' पाठः।

ऐसे मनुष्यों से शास्त्रार्थ करने को प्रवृत्त हो सकता हूँ? हाँ, मैं अपरिचित मनुष्यों के साथ चाहे कोई धर्म से पूछे अथवा अधर्म से, उन सबों के समाधान करने को एक बार तो प्रवृत्त हो ही जाता हूँ परन्तु उस समय जिसको अयोग्य समझ लेता हूँ, जबतक वह अपनी अयोग्यता को छोड़ कर नहीं पूछता और न कहता है, तबतक उससे सत्यासत्यनिर्णय के लिये कभी प्रवृत्त नहीं होता हूँ। हाँ, जो सब विद्वानों को योग्य है वह काम तो करता ही हूँ अर्थात् जब-जब अयोग्य पुरुष मुझ से मिलता वा मैं उससे मिलता हूँ, तब-तब प्रथम उसकी अयोग्यता के छुड़ाने में प्रयत्न करता हूँ। जब वह धर्मात्मता से योग्य होता है तब मैं उसको प्रेम से उपदेश करता हूँ। वह भी प्रेम से पूछके निस्सन्देह होकर आनन्दित हो जाता है * ॥

अब जो राजा शिवप्रसादजी ने स्वामी विशुद्धानन्दजी की सम्मति लिखी, ज्येष्ठ[1] महीने में 'निवेदन पत्र' छपवाके प्रसिद्ध किया है, उसीके उत्तर में यह पुस्तक है। इसमें जहाँ जहाँ (रा०) चिह्न आवे, वहाँ वहाँ राजा शिवप्रसादजी का और जहाँ जहाँ (स्वा०) आवे, वहाँ वहाँ मेरा लेख जानना चाहिये॥

रा०—जितना महाराजजी के मुखारविन्द से सुना था, बड़े सन्देह का कारण हुआ, निवृत्त्यर्थ पत्र लिखा। महाराजजी ने कृपा करके उत्तर दिया,[2] उसे देख मेरा सन्देह और भी बढ़ा। महाराजजी के लिखे अनुसार ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका मंगाके पृष्ठ ९ से ८८ तक[3] देखा, विचित्र लीला दिखाई दी। आधे-आधे वचन जो अपने अनुकूल पाये ग्रहण किये हैं, शेषार्द्ध जो प्रतिकूल पाये परित्याग † [किये]। उन आधे अनुकूल में भी जो कोई शब्द अपने भाव से विरुद्ध देखे, उनके अर्थ पलट दिये, मनमाना लगा लिये ‡ परन्तु आपने याज्ञवल्क्यजी का यह[4] वाक्य आधा ही अपना उपयोगी समझ क्यों लिखा? क्या इसीलिये कि शेषार्द्ध वादी का उपयोगी है?[5]

स्वा०—क्या मेरी बात ही सन्देह की बढ़ानेहारी है? उनकी अल्प समझ और आलस्य नहीं है? और यह भी सच है कि जब-जब अविद्वान् होकर विद्वान् के बनाये ग्रन्थ को देखने लगता है, तब-तब कांच के मन्दिर में प्रविष्ट हुए श्वान के समान भूंस-भूंस[6] सुख के बदले दुःख ही पाया करता है।

विदित हो कि जहाँ जितने वाक्य के भाग के लिखने की योग्यता हो, उतना ही लिखना उचित

---

* कोई भी वैद्य जबतक रोगी के आँखों की पीड़ा सोजा और मलीनता दूर नहीं कर देता, तब तक उसको दिखला भी नहीं सकता परन्तु जिसके नेत्र ही फूट गये हैं, उसको कुछ भी दिखलाने का उपाय नहीं है।

† देखिये राजाजी की अद्भुत लीला। मैंने जो वेदार्थ के अनुकूल लिखा है उसको मेरे अनुकूल और जो वेदार्थ प्रकरण के प्रतिकूल का त्याग किया है, उसको मेरे प्रतिकूल समझते हैं। इसीलिये राजाजी विद्यारहस्य को कुछ भी नहीं समझते हैं क्योंकि उनको भी ऐसा ही करना पड़ता है॥

‡ जैसी राजाजी की समझ है, वैसी किसी छोटे विद्यार्थी की भी नहीं हो सकती क्योंकि जो व्याख्येय शब्दार्थ के विरुद्ध का छोड़ना और अनुकूल का ग्रहण करना सबको योग्य होता है उस-उस को वे उलटा समझते हैं और फिर कोई उदाहरण भी नहीं लिखते कि इसका अर्थ उलटा वा मनमाना किया। क्या ज्वरयुक्त मनुष्य के लिये कुपथ्य का त्याग और सुपथ्य का ग्रहण करना वैद्य का दोष है और मैंने तो अपनी समझ के अनुसार जो कुछ लिखा है सो सब शास्त्रानुकूल ही है। उसको उलटा वा मनमाना लगा लेना जो समझते हैं, यह उनकी समझ का दोष है॥

१. संवत् १९३७। २. द्र० पूर्व मुद्रित चैत्रसुदी १२ सं. १९३७ का पत्र (पृ० ५८)।

३. रा. ला. क. ट्र. सं० में पृष्ठ १०—१०१ तक।

४. सम्भवतः यह संकेत 'एवं वा अरेऽस्य……' वचन की ओर है। यह वचन पृष्ठ ११ (रा. ला. क. ट्रस्ट संस्क०) में उद्धृत है।

५. उक्त वाक्य में इतिहास पुराणादि का उल्लेख होने से।

६. अर्थात् भौंक-भौंक के।

होता है, न अधिक न्यून। जिसलिये यह वेदभाष्य की भूमिका है, इसलिये उस वाक्यसमूह में से जितना वेदों का उपयोगी लिखना उचित था, उतना ही लिखा है। जो इतिहासादि में से जिस किसी की व्याख्या करनी होती, तो वहां उस-उस भाग का लिखना भी योग्य था। प्रकरणविरुद्ध लिखना विद्वानों का काम नहीं *।

सब विद्वान् इस बात को निश्चित जानते हैं कि पदों का पद, वाक्यों का वाक्य, प्रकरणों का प्रकरण और ग्रन्थों का ग्रन्थों ही के साथ सम्बन्ध होता ही है। जब ऐसा है, तब राजाजी को अपनी बात की पुष्टि के लिये सब पद, सब वाक्य, सब प्रकरण और सब ग्रन्थों का प्रमाणार्थ एकत्र लिखना उचित हुआ। क्योंकि यह उन्हीं की प्रतिज्ञा है † कि आधा छोड़ना और आधा लिखना किसी को योग्य नहीं। और जो राजाजी सम्पूर्ण का लिखना उचित समझते हैं, सो यह बात अत्यन्त तुच्छ और असम्भव है। ऐसी बात कोई बालबुद्धि मनुष्य भी नहीं कह सकता। देखिये फिर यही उनकी अविद्वत्ता उलटा उनको उन्हीं मिथ्यादोषों में पकड़ कर गिराती रहती है, अर्थात् जो मिथ्या दोष वे मेरे लेख पर देते हैं, उन्हीं में आप डूबे हैं।

यहाँ जो कोई मनुष्य राजाजी से पूछेगा कि—आप जो स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी की बनाई भूमिका में दोष देते हैं, वही आप के "अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः"[1] इस लेख में भी आते हैं। इसकी वाक्यावली ‡ तो ऐसी है—

"अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
जङ्घन्यमाना अपि यन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥"[2]

फिर आपने इस वाक्यावली में से पूर्व के तीन भाग छोड़, चौथे भाग को क्यों लिखा? तब राजा साहब घबड़ा कर मौन ही साध जायँगे, क्योंकि वे वाक्यावली में से प्रकरणोपयोगी एक ही भाग का लिखना उचित नहीं समझते, चाहे प्रकरणोपयोगी हो वा न हो, किन्तु पूरी वाक्यावली लिखना योग्य समझते हैं ÷।

जो ऐसा न समझते तो—"एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि' ॥"[3] इस वाक्यसमुदाय को स्वामीजी ने नहीं लिखा, यह मिथ्या दोष क्यों लगाते। पर विचारे क्या करें, उन्होंने न कभी किसी से वाक्यलक्षण सुना और न पढ़कर जाना है। जो सुना वा जाना होता तो 'एवं वा०' इससे लेके 'निःश्वसितानि' इस अनेक वाक्य के समुदाय को एक वाक्य क्यों समझते ×।

---

* चेत करना चाहिये यह उलटी समझ राजाजी की है कि जो अनेक वाक्यों को एक वाक्य समझना ॥

† ऐसा असम्भव वचन किसी विद्वान् के मुख से नहीं निकल सकता है, और न हाथ से लिखा जा सकता है ॥

‡ जैसे कोई प्रमत्त अर्थात् पागल पगड़ी पग पर और जूते शिर पर धरता है, वैसे काम विद्वान् कभी नहीं कर सकता ॥

÷ मेरी प्रतिज्ञा तो यह है कि जहाँ जितना लिखना योग्य हो, वहाँ उतना ही लिखना ॥

× जो राजाजी विद्या में वास कर अविद्या से पृथक् होते, तो उनके मुख से ऐसी असम्भव बात कभी न निकलती ॥

१. मुण्डकोप० १।२।९ २. मुण्डकोप० १।२।९॥ तत्र 'परियन्ति' इति पाठः।

३. बृ० उप० ४।५।११ काण्वपाठ। माध्यन्दिन पाठ में 'इष्टं' से 'भूतानि' पर्यन्त अंश नहीं है। द्र० शत० १४।५।४।१०॥

देखिये ! यह महाभाष्य में वाक्य का लक्षण लिखा है—'एकतिङ् वाक्यम्'[१]।' जिसके साथ एक तिङन्त के प्रयोग का सम्बन्ध हो, वह 'वाक्य' कहाता है। जैसे—'एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य विभोः परमेश्वरस्य साक्षाद्वा परम्परासम्बन्धादेतत्सर्वं वक्ष्यमाणमनेकवाक्यवाच्यं निःश्वसितमस्तीति' एक, और 'पूर्वोक्तस्य सकाशादृग्वेदो निःश्वसितोऽस्तीति' दूसरा वाक्य है। इसी प्रकार इस कण्डिका में २० वाक्य तो पठित हैं और आकांक्षित वाक्य 'त्वं विद्धि' इत्यादि ऊपर से और चकार से इन्हीं के अविरुद्ध अपठित उपयोगी अनेक अन्य वाक्य भी अन्वित होते हैं।

क्या जिनको वाक्य का बोध न हो, उनको पदार्थ और वाक्यार्थ का बोध, जिनको पदार्थ और वाक्यार्थ का बोध न हो, उनको प्रकरणार्थ और ग्रन्थ के पूर्व पदार्थ का बोध होने की आशा कभी हो सकती है* ? इसीलिये जो राजाजी को दूसरे पत्र[२] में मैंने लिखा है, सो बहुत ठीक है कि इससे मुझको निश्चित हुआ कि राजाजी ने वेदों से लेके पूर्वमीमांसा पर्यन्त विद्या पुस्तकों में से किसी भी पुस्तक के शब्दार्थ सम्बन्धों को जाना नहीं है † इसलिये उनको मेरी बनाई भूमिका का अर्थ भी ठीक-ठीक विदित न हुआ।

क्या अब जिस को थोड़ी सी भी बुद्धि होगी, वह राजासाहब को शास्त्रों के तात्पर्यार्थ ज्ञानशून्य जानने में कुछ भी शङ्का रख सकता है ? यहाँ 'चोर कोटवाल को दण्डे' यह कहानी चरितार्थ होती है कि जो "अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः"[३] के समान स्वयं राजाजी और उनके विचारानुकूल चलने वाले होकर भ्रम से इसके अर्थ को मेरी बनाई भूमिका और मेरे उपदेश को माननेहारे पर झोंक देते हैं। क्या यह उलट पलट नहीं है ?

इससे मैं सब आर्यसज्जनों को विदित करता हूँ कि जो अपना कल्याण चाहें, वे उनके व्यर्थ वाक्याडम्बर जाल में बद्ध हो अपने मनुष्य जन्म के धर्मार्थ काम मोक्ष फलों से रहित होकर दुःखदुर्गन्ध-सागर रूप घोर नरक में गिरकर चिरकाल दारुण दुःख भोग न करें और सर्वानन्दप्रद वेद के सत्यार्थप्रकाश में स्थिर होकर सर्वानन्दों का भोग न छोड़ बैठें।

अब जो स्वामी विशुद्धानन्दजी की पक्षपातरहित विद्वत्ता की परीक्षा बाकी है, सो करनी चाहिये—

रा०—श्रीमत्पण्डितवर ‡ बालशास्त्रीजी तो बाहर गये हैं, परमपूजनीय जगद्गुरु × श्री स्वामी

---

* राजाजी ने समझा होगा कि मैं बड़ा बुद्धिमान् हूँ। हाँ 'अन्धानां मध्ये काणो राजा' यहाँ इस न्याय के तुल्य तो चाहे कोई समझ लेवे॥

† ईश्वरोक्त चार वेद स्वतः प्रमाण और ब्रह्मा से लेके जैमिनि पर्यन्त ऋषि मुनि और ऐतरेय ब्राह्मण से लेके पूर्वमीमांसा पर्यन्त ग्रन्थों की गणना से कोई भी आर्ष पुस्तक पढ़ना बाकी नहीं रहता कि जिसका परतः प्रमाण ग्रहण न हो सके क्योंकि ग्रन्थकारों में जैमिनि सब के पश्चात् हुए हैं और पुस्तकों में [आर्ष ग्रन्थों में] पूर्वमीमांसा सब से पीछे बनाया है, इसलिये जो राजाजी ने नोट में "स्वामीजी ने पूर्वमीमांसा पर्यन्त पढ़ा होगा". लिखा है, सो भ्रम से ही है॥

‡ काशी के पण्डितों में तो बालशास्त्रीजी किसी प्रकार श्रेष्ठ हो सकते हैं, भूगोलस्थ पण्डितों में नहीं॥

× जगत् में जो जो उनके शिष्यवर्ग में हैं, उन उनके परमपूजनीय और गुरु होंगे, सब के क्योंकर हो सकते हैं ?

१. महाभाष्य २।१।१॥

२. यह पत्र वैशाख बदी ७ सं० १९३७ को लिखा गया था। इसे भी पूर्वत्र हमने छापा है (पृ० ५९)।

३. मुण्डकोप० १।२।९॥

विशुद्धानन्दजी के चरणों में पहुँच, जो[1] पत्र और उत्तरों को देखकर बहुत हँसे * और पिछले उत्तर पर जिसमें इन दोनों महात्माओं का नाम है कुछ लिखवा भी दिया। स्वामी विशुद्धानन्दजी का लिखवाया राजा साहब के प्रश्नों का उत्तर दयानन्द से नहीं बना इति।

स्वा०—जिनका पक्षी पक्षपातान्धकार से विचारशून्य हो, उनके साक्षी तत्सदृश क्यों न हों? क्या यथाबुद्धि कुछ विद्वान् होकर स्वामी विशुद्धानन्दजी को योग्य था कि ऐसे अशास्त्रवित् अव्युत्पन्न व्यर्थ वैतण्डिक मनुष्य के अत्यन्त अयुक्त लेख पर बिना सोचे समझे सम्मति लिख देवें, और इससे 'सजातीय प्रवाहपतन' न्याय करके यह भी विदित हुआ कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भी राजाजी के तुल्यत्व की उपमा के योग्य हैं। मैं स्वामी विशुद्धानन्दजी को चिताता हूं कि आगे कभी ऐसा निर्बुद्धिता का काम न करें †। भला मैंने तो राजाजी को संस्कृत विद्या में अयोग्य जानकर लिख दिया है कि आपने जिसलिये वेदादिविद्या के पुस्तकों में से एक का भी अभ्यास नहीं किया है, जो आप को उत्तर ग्रहण की इच्छा हो तो मेरे पास आके सुन समझ कर अपनी बुद्धि के योग्य ग्रहण करो। आप दूर से वेदादि-विषयक प्रश्न करने और उत्तर समझने योग्य नहीं हो सकते। इसीलिये उनको लिख के यथोचित उत्तर न भेजे और न भेजूँगा।

यह बात भी मेरे दूसरे पत्र से प्रसिद्ध है कि जो वे वेदादिशास्त्रों में कुछ भी विद्वान् होते, तो मेरी बनाई भूमिका का कुछ तो अर्थ समझ लेते ‡। न ऐसी किसी की योग्यता है कि अन्धे को दिखला सके। यह भी मैं ठीक जानता हूँ कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भी वेदादि शास्त्रों में विद्वान् नहीं, किन्तु नवीन टीकानुसार दश उपनिषद् शारीरिक[2] और पूर्वमीमांसा सूत्र और प्राचीन आर्षग्रन्थों से विरुद्ध कपोलकल्पित तर्कसंग्रहादि ग्रन्थों का अभ्यास तो किया है। परन्तु वे भी नशा से × विस्मृत हो गये होंगे, तथापि उनका संस्कारमात्र तो ज्ञान रहा ही होगा। इसलिये वे संस्कृत पदवाक्य प्रकरणार्थों को यथाशक्ति जान सकते हैं परन्तु न जाने उन्होंने राजाजी के अयोग्य लेख पर क्योंकर साक्षी लिखी।

अस्तु, जो किया सो किया, अब आगे को वे वा बालशास्त्रीजी जिसके उत्तर वा प्रश्नों पर हस्ताक्षर करके मेरे पास अपनी ओर से भेज दिया करें और यह भी समझ रक्खें कि जो प्रश्नोत्तर उनके हस्ताक्षर-युक्त आवेंगे, वे उन्हीं की ओर से समझे जावेंगे, जैसा कि यह निवेदनपत्र का लेख स्वामी विशुद्धानन्दजी की ओर से समझा गया है। इसीलिये ये तीनों स्वामी सेवक मिलकर प्रश्नों का विचार शुद्ध लिखकर मुन्शी बख्तावरसिंहजी के पास भेज दिया करें। मुन्शीजी आपकी ओर से यह लेख है वा नहीं, इस निश्चय के लिये पत्र द्वारा आप से सम्मतिपत्र मँगवा के मेरे पास भेज दिया करेंगे और मेरा लेख भी मेरे हस्ताक्षर सहित अपने[3] हस्ताक्षर करके पत्र सहित उनके[4] पास भेज दिया करेंगे।

* जो कुछ भी पत्रों के अभिप्राय को समझते, तो हास करके अयोग्य पत्र पर सम्मति क्यों लिख बैठते?

† जो कोई बिना विचारे कर बैठता है, उसको बुद्धिमान् प्राज्ञ नहीं कहते॥

‡ यह तो सच है कि जो मनुष्य योग्य होकर समझना चाहता है वह समझ भी सकता है॥

× सुना है कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भांग और अफीम का सेवन करते हैं। जो ऐसा है तो अवश्य उनको विद्या का स्मरण न रहा होगा। जो मादक द्रव्य होते हैं, वे सब बुद्धिनाशक होते हैं।[5] इससे सब को योग्य है कि उनका सेवन कभी न करें॥

१. यहाँ 'पहुँचा, वे' पाठ चाहिए।
२. 'शारीरक' पाठ होना चाहिए। इसका अर्थ है वेदान्तशास्त्र।
३. अर्थात् बख्तावर सिंह के।
४. पं० बालशास्त्री और स्वा० विशुद्धानन्द आदि के पास।
५. बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारी तदुच्यते॥

वे लोग राजाजी आदि को समझाया करें और वे आप से मेरे लेखाभिप्राय को समझ लिया करें। जो इस पर भी आप लोग परस्पर विचार करने में प्रवृत्त न होंगे, तो क्या सब सज्जन लोग आप लोगों को भी अयोग्य न समझ लेंगे ? क्योंकि जो स्वपक्ष के स्थापन और परपक्ष के खण्डन में प्रवृत्त न होकर केवल विरोध ही मानते रहें, वे अयोग्य कहाते हैं। इसलिये मैं सब को सूचना करता हूं कि जो मेरे पक्ष से विरुद्ध अपना पक्ष जानते हों, तो प्रसिद्ध होकर शास्त्रार्थ क्यों नहीं करते ? और टट्टी की आड़ में स्थित होकर ईंट पत्थर फेंकने वाले के तुल्य कर्म करना क्यों नहीं छोड़ते ?

और जो विरुद्ध पक्ष नहीं जानते हों तो अपने पक्ष को छोड़ मेरे पक्ष में प्रवृत्त होकर प्रीति से इसी पक्ष का प्रचार करने में उद्यत क्यों नहीं होते ? * जो ऐसा नहीं करके दूर ही दूर रह कर झूठे गाल बजाने और जैसे मेरे काशी से चले आने पर राजाजी के पत्र पर व्यर्थ हस्ताक्षर करने से उनने अपनी अयोग्यता प्रसिद्ध कराई, वैसे जो वे मुझ से शास्त्रार्थ करेंगे तो प्रशंसित भी हो सकते हैं। ऐसा किये विना क्या वे लोग बुद्धिमान् धार्मिक विद्वानों के सामने असाननीय और अप्रतिष्ठित न होंगे ?

जो इसमें एक बात न्यून रही है कि बालशास्त्रीजी भी इस पर अपनी सम्मति लिखते तो उनको भी राजा शिवप्रसाद और स्वामी विशुद्धानन्दजी के साथ दक्षिणा मिल जाती। कहिये राजाजी ! आप अपनी रक्षा के लिये स्वामी विशुद्धानन्दजी के चरणों में पहुंच कर पत्र दिखा सम्मति लिखा पुस्तक छपाकर इधर उधर भेजने से भी न बच सके, आपके जाट, खाट और कोल्हू लौट कर आपही के शिर पर चढ़े वा नहीं ? अब इस बोझ के उतारने के लिये आपको योग्य है कि बालशास्त्रीजी के चरणों में भी गिरकर बचने का उपाय कीजिये और आप अपने विजय के लिये स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी को प्राड्विवाक् अर्थात् वारिस्टर करना भी मत छोड़िये।

अथवा उत्तम तो यह है कि वे दोनों आपको ढाल बनाकर न लड़ें, किन्तु सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करें। इसी में उनकी शोभा है, अन्यथा नहीं। परन्तु मैं आप और उनको निश्चित कहता हूं कि सब मिलकर कितना ही करो, जब तक कोई मनुष्य झूठ छोड़, सत्यमत का ग्रहण नहीं करता, तबतक अपना और दूसरे का विजय कभी नहीं कर सकता और न करा सकता है। क्या दूसरे की वृथा प्रशंसा से हर्षित होकर स्वामी विशुद्धानन्दजी का बहुत हँसना बालकों का खेल नहीं है ? और जो कोई अपनी योग्यता के सदृश वर्त्तमान न करे, वह संशय में मग्न होकर विनष्ट क्योंकर न होवे ?

अब मैं सूचना करता हूँ कि बुद्धिमान् आर्य लोग पक्षी राजाजी और साक्षी विशुद्धानन्दजी के हास्यास्पद लेख को देख उस पर विश्वास कर इस 'क्वास्ताः क्व निपतिताः'[1] महाभाष्योक्त वचनार्थ के सदृश होकर धर्मफल आनन्द से छूटकर दुर्गन्ध गढ़े और दुःखसागर में जा न गिरें।

रा०—हम केवल वेद की संहितामात्र मानते हैं। एक ईशावास्य उपनिषद् संहिता है और सब उपनिषद् ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण हम कोई नहीं मानते, सिवाय संहिता के हम और कुछ नहीं मानते हैं।

स्वा०—जैसा यह राजाजी का लेख है, वैसा मैंने नहीं कहा था किन्तु जैसा नीचे लिखा है वैसा कहा गया था। तद्यथा—

"रा०—आपका मत क्या है ?

स्वा०—वैदिक।

रा०—आप वेद किसको मानते हैं ?

---

* उनको अवश्य योग्य है कि सत्य के आचरण और असत्य के छोड़ने में अति दृढ़ोत्साहयुक्त होके निन्दा-स्तुति हानि-लाभ आदि की प्राप्ति में शोक और हर्ष कभी न करें॥

१. महाभाष्य १।२।९।

स्वा०—संहिताओं को।

रा०—क्या उपनिषदों को वेद नहीं मानते ?

स्वा०—मैं वेदों में एक ईशावास्य को छोड़ के अन्य उपनिषदों को नहीं मानता[1] किन्तु अन्य सब उपनिषद् ब्राह्मण ग्रन्थों में हैं, वे ईश्वरोक्त नहीं हैं।

रा०—क्या आप ब्राह्मण पुस्तकों को वेद नहीं मानते ?

स्वा०—नहीं, क्योंकि जो ईश्वरोक्त है, वही वेद होता है, जीवोक्त को वेद नहीं कहते। जितने ब्राह्मण ग्रन्थ हैं वे सब ऋषि मुनि प्रणीत और संहिता ईश्वरप्रणीत हैं। जैसा ईश्वर के सर्वज्ञ होने से तदुक्त निर्भ्रान्त सत्य और मत के साथ स्वीकार करने योग्य होता है, वैसा जीवोक्त नहीं हो सकता क्योंकि वे सर्वज्ञ नहीं परन्तु जो-जो वेदानुकूल ब्राह्मण ग्रन्थ हैं, उनको मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूं। वेद स्वतःप्रमाण और ब्राह्मण परतःप्रमाण हैं इससे जैसे वेदविरुद्ध ब्राह्मण ग्रन्थों का त्याग होता है, वैसे ब्राह्मणग्रन्थों से विरुद्धार्थ होने पर भी वेदों का परित्याग कभी नहीं हो सकता, क्योंकि वेद सर्वथा सब को माननीय ही हैं।"

यह मेरे पत्र[2] का लेख उनके भ्रमजाल निवारण का हेतु विद्यमान ही था, परन्तु मेरा लेख क्या कर सकता है, जो राजाजी मेरे लेख को समझने की विद्या ही नहीं रखते तो क्या इसमें राजाजी का दोष नहीं है ?

रा०—वादी कहता है * जो संहिता ईश्वर प्रणीत है तो ब्राह्मण भी ईश्वर प्रणीत हैं।

स्वा०—देखिये राजाजी की मिथ्या आडम्बरयुक्त लड़कपन की बात को, जैसे कोई कहे कि जो पृथिवी और सूर्य ईश्वर के बनाये हैं तो घड़ा और दीप भी ईश्वर ने रचे हैं।

रा०—और जो ब्राह्मणग्रन्थ सब ऋषि मुनि प्रणीत हैं, तो संहिता भी ऋषि मुनि प्रणीत हैं।

स्वा०—यह भी ऐसी बात है कि जो कोई कहे कि ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रणीत है, तो ऋग्यजुः साम और अथर्व चारों वेद भी उन्हीं के प्रणीत हैं।

रा०—वादी को आप अपना प्रतिध्वनि समझिये †।

स्वा०—देखिये, राजाजी की अविद्या के प्रकाश को। क्या प्रतिवादी का प्रतिध्वनि वादी कभी हो सकता है ? क्योंकि जैसा शब्द और उसमें जैसे पद अक्षर और मात्रा होती हैं, वैसा[3] ही प्रतिध्वनि सुनने में आता[3] है, विपरीत नहीं। कोई बालबुद्धि भी नहीं कह सकता कि वादी अपने मुख से प्रतिवादी ही के शब्दों को निकाले, विरुद्ध नहीं। जबतक प्रतिवादी के पक्ष से विरुद्ध पक्ष प्रतिपादन नहीं करता, तबतक

---

* क्या विद्या और सुशिक्षा रहित मनुष्य प्रश्न और उत्तर करना कभी जान सकता है ? जब राजाजी वाद के लक्षणयुक्त ही नहीं हैं, तो वादी क्योंकर बन सकते हैं ?

† जो मैं राजाजी के सदृश होता तो वादी को अपना प्रतिध्वनि समझता क्योंकि प्रतिध्वनि ध्वनि से विरुद्ध कभी नहीं हो सकता और वादी प्रतिवादी से अविरुद्ध कभी नहीं हो सकता॥

१. यह लेख माध्यन्दिन ईशोपनिषद् के लिए है। काण्व पाठानुसारी ईशोपनिषद् को स्वामीजी शाखान्तर्गत मानते हैं।

२. पूर्व मुद्रित पत्र पृ० ५८–५९। पत्र में तथा इस लेख में नाममात्र का भेद है।

३. सप्तम संस्करण के पश्चात् ध्वनि को स्त्रीलिङ्ग मानकर 'वैसी, आती, सुनी जाती, होती' ऐसे परिवर्तन किये गए हैं। ग्रन्थकार भाषा में भी संस्कृत शब्दों के लिङ्ग संस्कृत के समान ही प्रयुक्त करते हैं। अतः ध्वनि के पुंल्लिङ्ग होने से पूर्व संस्करणों के पाठ ही ठीक हैं।

वह उसका वादी कभी नहीं हो सकता। जैसे कुआं में से प्रतिध्वनि सुना जाता है, क्या वह वक्ता के शब्द से विरुद्ध होता है ?

रा०—आपने लिखा वेदसंहिता स्वतःप्रमाण और ब्राह्मण परतःप्रमाण हैं। वादी कहता है कि जो ऐसा है तो ब्राह्मण ही स्वतःप्रमाण हैं, आपका संहिता भाग परतःप्रमाण होगा।

स्वा०—क्या यह उपहास की बात नहीं है। जैसे कोई कहे कि सूर्य्य और दीप स्वतः प्रकाशमान हैं तो घटपटादि भी स्वतः प्रकाशमान हैं।

रा०—आप ने लिखा कि मेरी बनाई हुई ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के नव ९ पृष्ठ से लेके ८८ अट्ठासी[1] के पृष्ठ तक वेदोत्पत्ति, वेदों का नित्यत्व और वेदसंज्ञा विचार विषयों को देख लीजिये, निश्चय होगा। सो महाराज! निश्चय के पलटे में तो और भी भ्रांति में पड़ गया। मुझे तो इतना ही प्रमाण चाहिये कि आप ने संहिता को माननीय मानकर ब्राह्मण का क्यों परित्याग किया? और वादी तो संहिता जैसा ब्राह्मण को वेद मान, जो आपने वेद के अनुकूल लिखा अपने अनुकूल और जो ब्राह्मण के प्रतिकूल लिखा, उसे संहिता के भी प्रतिकूल समझता है।

स्वा०—यह सच है कि जो अविद्वान् होकर विद्वत्ता का अभिमान करे, वह अपनी अयोग्यता से [सुख] छोड़ कर दुःख क्यों न पावे। मैंने वेदों को स्वतःप्रमाण मानने और ब्राह्मणों को परतःप्रमाण मानने में [कारण] इस भ्रमोछेदन[2] के इसी पृष्ठ में आगे लिख दिये हैं। क्या [उन्हें] बाँचते समय अकस्मात बुद्धि और आँख अन्धकारावृत हो गये थे ?

'परन्तु जो जो वेदानुकूल ब्राह्मणग्रन्थ हैं, उनको मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूँ। वेद स्वतःप्रमाण और ब्राह्मण परतःप्रमाण हैं। इससे जैसे वेदविरुद्ध ब्राह्मणग्रन्थों का त्याग होता है, वैसे ब्राह्मण ग्रन्थों से विरुद्धार्थ होने पर भी वेदों का परित्याग नहीं हो सकता, क्योंकि वेद सर्वथा सब को माननीय हैं।'[3]

रा०—'तस्माद्यज्ञात्'''अजायत' अर्थात् उस यज्ञ से वेद उत्पन्न हुए। पृष्ठ १० पङ्क्ति २९[4] में आप शतपथ आदि ब्राह्मण का प्रमाण देकर यह सिद्ध करते हैं कि यज्ञ और विष्णु परमेश्वर।

स्वा—जो राजाजी कुछ भी संस्कृत पढ़े होते तो सन्निपाती के सदृश चेष्टा करके भ्रमजाल में न पड़ते। क्योंकि 'तच्छब्द' सर्वत्र पूर्वपरामर्शक होता है। इसी से मैंने 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' यहाँ से लेके 'ग्राम्याश्च' यहाँ तक जो छः मन्त्रों[5] से प्रतिपादित निमित्त कारण परमात्मा पूर्वोक्त है, उसका आमर्ष अर्थात् अनुकर्षण करके अन्वित किया है।

---

१. रा. ला. क. ट्र. सं० में पृष्ठ १०–१०१ तक।

२. प्रथम सं० में 'इसी पृष्ठ' के आगे '१४' संख्या छपी है वह मुद्रण काल में डाली गई है। कारण भ्रमोच्छन ग्रन्थ के ही पृष्ठ के बाँचते समय 'अन्धकारावृत हो गए थे' यह अगला भूतकाल का वर्णन सम्भव नहीं। शताब्दी सं० में १४ के स्थान पर २१ पाठ बनाया है और टिप्पणी में 'यह निर्देश हस्तलिखित कापी का है' ऐसा लिखा है। यह भी पूर्ववत् असम्भव है। वस्तुतः यहाँ भ्रमोच्छेदन शब्द से यह पुस्तक अभिप्रेत नहीं है अपितु ऋषि का वह पत्र है जिस की चर्चा चल रही है वह राजाजी के पत्र के उत्तर में उनके भ्रम का उच्छेदन करने वाला होने से भ्रमोच्छेदन नाम से यहाँ लिखा गया है उसमें आगे यह प्रकरण है। उसके पढ़ते समय 'अन्धकारावृत हो गए थे' यह भूतकाल का निर्देश ठीक बनता है। अगला पाठ उक्त पत्र का ही यहाँ लिखा है इस से भी स्पष्ट है कि उक्त 'भ्रमोच्छेदन' शब्द से इस पुस्तक का ग्रहण इष्ट नहीं है अपितु उक्त पत्र की ओर ही संकेत है।

३. यह पूर्व मुद्रित प्रथम पत्र के अन्त का भाग यहाँ उद्धृत है।

४. रा. ल. क. ट्र. सं० पृ० १०, पं० १५। मूल पाठ में पृष्ठ संख्या ९ होनी चाहिए।

५. ये यजु० अ० ३१ के मन्त्र हैं।

देखो इसी के आगे भूमिका के पृष्ठ ९ पंक्ति ११—[1] "(तस्माद्यज्ञात्स०) तस्माद्यज्ञात्सच्चिदानन्दादिलक्षणात्-पूर्णात् पुरुषात् सर्वहुतात् सर्वपूज्यात् सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः (ऋचः) ऋग्वेदः (यजुः) यजुर्वेदः (सामानि) सामवेदः (छन्दांसि) अथर्ववेदश्च (जज्ञिरे) चत्वारो वेदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम् ।"

यह 'सर्वहुत' और 'यज्ञ' विशेषण पूर्णपुरुष के हैं । (तस्मात्) अर्थात् जो सब का पूज्य, सर्वोपास्य, सर्वशक्तिमान् पुरुष परमात्मा है, उससे चारों वेद प्रकाशित हुए हैं । इत्यादि से यहाँ वेदों ही के प्रमाण से चार वेदों को स्वतःप्रमाण से सिद्ध किया है । यद्यपि यहाँ यज्ञ शब्द भी पूर्ण परमात्मा का विशेषण है, तथापि जैसा मैंने अर्थ किया है, वैसा ब्राह्मण में भी है । इस साक्षी के लिये 'यज्ञो वै विष्णुः'[2] यह वचन लिखा है और जो ब्राह्मण में मूल से विरुद्ध अर्थ होता तो मैं उसका वचन साक्षी के अर्थ कभी न लिखता ।

जो इस प्रकार से पद, वाक्य, प्रकरण और ग्रन्थ की साक्षी, आकांक्षा, योग्यता, आसक्ति और तात्पर्यार्थ को पक्षी राजाजी और स्वामी विशुद्धानन्दजी जानते वा किसी पूर्ण विद्वान् की सेवा करके वाक्य और प्रकरण के शब्दार्थ सम्बन्धों के जानने में तन मन धन लगा के अत्यन्त पुरुषार्थ से पढ़ते तो यथावत् क्यों न जान लेते * ।

रा०—पृष्ठों को कुछ उलट पलट किया तो विचित्र लीला दिखाई देती है । आप पृष्ठ ९१ पंक्ति ३ में लिखते हैं[3]—कात्यायन ऋषि ने कहा है कि मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम वेद है । पृष्ठ ५२ में लिखते हैं प्रमाण ८ हैं[4] और फिर ५३ में लिखते हैं[5] चौथा शब्दप्रमाण आप्तों के उपदेश, पांचवां ऐतिह्य सत्यवादी विद्वानों के कहे वा लिखे उपदेश । तो आपके निकट कात्यायन ऋषि आप्त और सत्यवादी विद्वान् नहीं थे † ॥

स्वा०—इसका प्रत्युत्तर मेरी बनाई ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पृष्ठ ८० पंक्ति २४ से लेके पृष्ठ ८८ अट्ठासी[6] तक में लिख रहा है, जो चाहे सो देख लेवे । और जो वहाँ 'एवं तेनानुक्तत्वात्'[7] इस वचन का यही अभिप्राय है कि 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'[8] यह वचन कात्यायन ऋषि का नहीं है किन्तु किसी धूर्तराट् ने कात्यायन ऋषि के नाम से बनाकर प्रसिद्ध कर दिया है[9] । जो कात्यायन ऋषि का कहा होता तो सब ऋषियों की प्रतिज्ञा से विरुद्ध न होता ‡ ? क्या आप जैसा कात्यायन को आप्त मानते हैं, वैसा पाणिनि आदि ऋषियों को आप्त नहीं मानते ? जो कभी आप्त मानते हो तो पाणिनि आदि आप्तों की प्रतिज्ञा से विरुद्ध कात्यायन ऋषि क्यों लिखते ?

---

* प्रसिद्ध है कि जो कोदों देके पढ़ते हैं, वे पदार्थों को यथावत् कभी नहीं जान सकते ॥

† वे तो आप्त विद्वान् थे, परन्तु जिसने उनके नाम से वचन रचकर प्रसिद्ध किया, वह तो अनाप्त अविद्वान् ही था ॥

‡ हजारह आप्तों का एक अविरुद्ध मत होता है, दो मूर्खों का भी एकमत होना कठिन है ॥

१. द्र. रा. ला. क. द्र. सं० पृ. १० पं० ९ ।

२. शत. १ । १ । २ । १३ ॥

३. रा. ला. क. द्र. सं० पृ० ९२ पं. ३, ४ ।

४. रा. ला. क. द्र. सं० पृ० ६० ।

५. रा. ला. क. द्र. सं० पृ० ६०, ६१ ।

६. रा. ला. क. द्र. सं० पृ० ९१—१०१ तक ।

७. रा. ला. क. द्र. संस्क० पृ० १०० पं० ९ ॥

८. इस वचन के विषय में जो विस्तार से जानना चाहें वे हमारा 'वेदसंज्ञामीमांसा' ग्रन्थ देखें ।

९. यह कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध प्रतिज्ञा परिशिष्ट में है । इस नाम के भी दो परिशिष्ट मिलते हैं एक का सम्बन्ध श्रौतसूत्र से है दूसरे का प्रातिशाख्य से । परिशिष्ट में होने से ही स्पष्ट है कि यह कात्यायन ऋषि का वचन नहीं है ।

और जो कहो कि हम इस वचन को कात्यायन का ही मानेंगे, तो ऐसा नहीं हो सकता। क्यों? आप पाणिनि आदि अनेक ऋषियों के लेख का तिरस्कार कर एक को आप्त कैसे मान सकते हो? और जो उन को भी आप्त मानते हो, तो मन्त्रसंहिता ही वेद हैं उनके इस वचन को मानकर तद्विरुद्ध ब्राह्मण को वेद-संज्ञा के प्रतिपादक वचन को क्यों नहीं छोड़ देते? क्योंकि एक विषय में परस्पर विरोधी दो वचन सत्य कभी नहीं हो सकते और जो सैकड़ों आप्त ऋषियों को छोड़कर एक ही को आप्त मानकर सन्तुष्ट रहता है, वह कभी विद्वान् नहीं कहा जा सकता।

रा०—आप लिखते हैं कि—ब्राह्मण में जमदग्नि कश्यप इत्यादि जो लिखे हैं, सो देहधारी हैं, अतएव वह वेद नहीं और संहिता में शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जमदग्नि का अर्थ चक्षु और कश्यप का अर्थ प्राण है, अतएव वह वेद है।

स्वा०—ब्राह्मणों में जमदग्नि आदि देहधारियों का नाम यों है कि जहाँ-जहाँ ब्राह्मण ग्रन्थों में उनकी कथा लिखी है, वहां-वहां जैसे देहधारी मनुष्यों का परस्पर व्यवहार होता है, वैसा उनका भी लिखा है। इसलिए वहां देहधारी का ग्रहण करना योग्य है और जहाँ मनुष्यों के इतिहास लिखने की योग्यता नहीं हो सकती, वहाँ इतिहास लिखने का भी सम्भव नहीं हो सकता। जो वेदों में इतिहास होते तो वेद अनादि और सबसे प्राचीन नहीं हो सकते? क्योंकि जिसका इतिहास जिस ग्रन्थ में लिखा होता है, वह ग्रन्थ उस मनुष्य के पश्चात् होता है।

जब कि वेदों में 'त्र्यायुषं जमदग्नेः०'[1] इत्यादि मन्त्रों की व्याख्या पदार्थविद्यायुक्त होनी ही उचित है, इससे उनमें इतिहास का होना सर्वथा असम्भव है। जिसलिये जैसा मूलार्थ प्रतीत होने के कारण जमदग्नि आदि शब्दों से चक्षु आदि ही अर्थों का ग्रहण करना योग्य है, वैसा ही ब्राह्मणग्रन्थों और निरुक्त आदि में लिखा है। इसलिये यह मैंने अपने किये अर्थों के सत्य होने के लिये साक्ष्यर्थमात्र लिखा है। राजाजी जो इस बात को जानते और इन ग्रन्थों को पढ़े होते, तो भ्रमजाल में फँसकर दुःखित न होते।

रा०—उसमें भी क्या उपनिषद् संज्ञी और इतिहासपुराणादि संज्ञा है? अथवा ऋग्वेदादि क्रमानुसार उनका संज्ञी वा संज्ञा है?

स्वा०—इसका उत्तर यह है कि एक 'ईशावास्य' उपनिषद् तो यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय होने से वेद है, और 'केन' से लेके 'बृहदारण्यक' पर्यन्त ९ नव उपनिषद् ब्राह्मणान्तर्गत होने से उनकी भी इतिहासादि संज्ञा 'ब्राह्मणानीतिहासान्०'[2] इस पूर्वोक्त वचन से है। इससे 'एवं वा अरे०'[3] इस वचन में निमित्तकारण कार्यसम्बन्ध होने से संज्ञासंज्ञीसम्बन्ध नहीं घट सकता। परन्तु राजासाहब के सदृश अविद्वान् तो 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी' ऐसा लिखने वा कहने में कुछ भी भययुक्त वा लज्जावान् नहीं होते *।

रा०—आप लिखते हैं कि ब्राह्मण वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण के योग्य तो हैं। यदि आप इतना और मान लें कि सम्पूर्ण ब्राह्मणों का प्रमाण संहिता के प्रमाण के तुल्य है।

स्वा०—अविद्वान् को कभी विद्यारहस्य के समझने की योग्यता नहीं हो सकती। क्या ऐसा कोई विद्वान् भी सिद्ध कर सकता है कि व्याख्या के अनुकूल होने से मूल का प्रमाण और प्रतिकूल [होने] से अप्रमाण और व्याख्या के मूल से प्रतिकूल होने से प्रमाण और अनुकूल होने से अप्रमाण होवे।

इसलिये मन्त्रभाग मूल होने से ब्राह्मणग्रन्थों से अनुकूल वा प्रतिकूल हो, तथापि सर्वथा माननीय

* विद्यावृद्धों ही को अन्यथा कहने और लिखने में शर्म वा भ्रम होता है, अविद्यायुक्त बालकों को नहीं॥

१. यजु० ३।६२। द्र० रा. ला. क. ट्र. सं० पृ० ६२–६३।

२. तै० आ० २।९॥ तुलना कार्या—आश्व० गृ० ३।३।१॥

३. शत० १४।५।४।१०॥

होने के कारण स्वतःप्रमाण, और ब्राह्मणग्रन्थ व्याख्या होने से मूलार्थ से विरुद्ध हो तो अप्रमाण, और अनुकूल हो तो प्रमाण होकर माननीय होने के कारण परतःप्रमाण हैं क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों में सर्वत्र संहिताओं के मन्त्रों की प्रतीक धर धरके पद वाक्य और प्रकरणानुसार व्याख्या की है। इसलिये मन्त्रभाग मूल व्याख्येय और ब्राह्मणग्रन्थ व्याख्या है।

रा०—आप लिखते हैं—'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।'[1] इसका अर्थ सीधा-सीधा यह मान लेवें कि आप के चारों वेद और उनके छओं अङ्ग अपरा हैं, जो परा उससे अक्षर में अधिगमन होता है। अपना फिरावट का अर्थ वा अर्थाभास छोड़ दें। किमधिकमित्यलम्।

स्वा०—यहाँ तक आप का जो ऊटपटाङ्ग लेख है, उसको कौन शुद्ध कर सकता है क्योंकि इसी भूमिका के पृष्ठ ४२[2] पंक्ति ३ में 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'[3] इस उपनिषद् के वचन ने आप के सीधे-सीधे अर्थ को टेढ़ा-टेढ़ा कर दिया। देखो यमराज कहते हैं कि हे नचिकेता! जिसका अभ्यास सब वेद करते हैं, उस ब्रह्म का उपदेश मैं तुझ से करता हूँ, तू सुन कर धारण कर। जब ऐसा है तो वेदों अर्थात् मन्त्रभाग में परा विद्या क्यों नहीं?

देखो—'तमीशानं०'[4] इत्यादि मन्त्र ऋग्वेद। 'परीत्य भूतानि'[5] इत्यादि और 'ईशावास्य' इत्यारभ्य 'ओं खं ब्रह्म'[6] पर्यन्त मन्त्रयुक्त ४० चालीसवां अध्यायस्थ मन्त्र यजुर्वेद। 'दधन्वे वा यदीमनुवोचद् ब्रह्मेति वेरुत्तत्।'[7] इत्यादि मन्त्र सामवेद। 'महद्यक्षं'[8] इत्यादि मन्त्र अथर्ववेद में हैं। जब वेदों में हजारों मन्त्र ब्रह्म के प्रतिपादक हैं, जिनमें से थोड़े से मन्त्रों का अर्थ भी मैंने भूमिका पृष्ठ ४३ पंक्ति २६ से लेके ३० पंक्ति की समाप्ति तक लिख रक्खा है[9]। जिसको देखना हो देख लेवे।

भला इतना भी राजाजी को बोध नहीं है कि वेदों में परा विद्या न होती, तो 'केन' आदि उपनिषदों में कहाँ से आती? 'मूलं नास्ति कुतः शाखाः?' क्या जो परमेश्वर अपने कहे वेदों में अपनी स्वरूपविद्या का प्रकाश न करता, तो किसी ऋषि मुनि का सामर्थ्य ब्रह्मविद्या के कहने में कभी हो सकता था? क्योंकि कारण के विना कार्य होना सर्वथा असम्भव है।

जो 'केन' आदि नव उपनिषदों को परा विद्या में मानेंगे, तो उनसे भिन्न आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद अर्थवेद और मीमांसादि छः शास्त्र आदि परा विद्या में क्यों नहीं? जब न इस वचन में उपनिषद् और न किसी अन्य ग्रन्थ का नाम लिखा है, तो कोई उनका ग्रहण कैसे कर सकता है? भला कोई राजाजी से पूछेगा कि आपने 'यया तदक्षरमधिगम्यते सा परा विद्यास्ति'[10] इस वाक्य से कौन से ग्रन्थों का नाम निश्चित् किया है? क्या 'यया' इस पद से कोई विशेष ग्रन्थ भी आ सकता है? और जो मैंने वेदों में परा और अपरा विद्या लिखी है, उसको कोई विपरीत भी कर सकता है? कभी नहीं।

इसीलिये सब मनुष्यों को योग्य है कि जैसे राजाजी संस्कृत विद्या के वेदादि ग्रन्थों को न पढ़ कर उन्होंमें प्रश्नोत्तर किया चाहते और जैसी स्वामी विशुद्धानन्दजी ने बिना सोचे समझे सम्मति कर दी है,

---

१. मुण्डकोप० १।१।५॥ रा. ला. क. ट्र० सं० पृ० ४७। २. रा. ला. क. ट्र. सं० पृ० ४७ पं० ६।
३. कठोप० २। १५॥ ४. ऋ० १। ८९। ५॥ ५. यजु० ३२। ११॥
६. यजु० ४०। १–१७॥ ७. साम पू० १।१।१०।४॥ ८. अथर्व० १०। ७। ३८॥

९. यहाँ प्रथम सं० और अगले संस्करणों में पृष्ठ पंक्ति संख्या अशुद्ध है। उक्त स्थल पर भूमिका (प्र० सं०) में इन मन्त्रों का अर्थ नहीं मिलता है। उक्त पृष्ठ पंक्ति में 'तत्रापरा' वचन का अर्थ है। यह रा. ला. क. ट्र. सं० में पृष्ठ ४९ पर छपा है।

१०. उपनिषत् का पाठ 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' है। यहाँ अर्थतः अनुवाद किया है ऐसा जानना चाहिए।

वैसे साहस न करना चाहिये। किन्तु उस विद्या में योग्य होके किसी से विचारार्थ प्रवृत्त होना चाहिये।

प्रश्न—आपने अपने दूसरे पत्र में राजाजी को लिख कर प्रश्न करने और उत्तर समझने में अयोग्य जान कर लिख के उत्तर देना चाहा न था, फिर अब क्यों लिखके उत्तर देते हो ?

उत्तर—जो राजाजी स्वामी विशुद्धानन्दजी की सम्मति न लिखाते तो मैं इस पत्र के उत्तर में एक अक्षर भी न लिखता क्योंकि उनको तो जैसा अपने पत्र में लिख चुका हूँ, वैसा ही निश्चित् जानता हूँ।

प्रश्न—इस संवाद में आप प्रतिपक्षी राजाजी को समझते हो वा स्वामी विशुद्धानन्दजी को ?

उत्तर—स्वामी विशुद्धानन्दजी को, क्योंकि राजाजी तो बिचारे संस्कृतविद्या पढ़े ही नहीं। उनके सामने मेरा लेख ऐसा होवे कि जैसा बधिर के सामने अत्यन्त निपुण गानेवाले का वीणा आदि बजाना और षड्जादि स्वरों का यथायोग्य आलाप करना होता है।

प्र०—जो तुम पक्षी राजाजी को छोड़कर स्वामी विशुद्धानन्दजी को आगे करते हो, सो यह न्याय की बात नहीं है ?

उ०—यह मुझ वा किसी को योग्य नहीं है कि संस्कृत में कुछ योग्य विद्वान् को छोड़कर अयोग्य के साथ संवाद चलावे। न राजाजी को योग्य है कि अपने साक्षी को छोड़ें और स्वामी विशुद्धानन्दजी को भी योग्य है कि अपने शरणागत आये राजाजी की रक्षा से विमुख न हो बैठें *।

प्र०—स्वामी विशुद्धानन्दजी वा बालशास्त्रीजी आदि काशी के सब विद्वान् और बुद्धिमान् मिलकर राजाजी का पक्ष लेकर आपसे शास्त्रार्थ वा लेख करेंगे तो आपको बड़ा कठिन पड़ेगा ?

उ०—मैं परमेश्वर की साक्षी से सत्य कहता हूँ कि जो ऐसा वे करें तो मैं अत्यन्त प्रसन्नता के साथ सब को विदित करता हूँ कि यह बात कल होती हो तो आज ही होवे जो ऐसी इच्छा मेरी न होती तो मैं काशी में विज्ञापनपत्र क्यों लगवाता और स्वामी विशुद्धानन्दजी तथा बालशास्त्रीजी को प्रतिपक्षी स्वीकार क्यों करता ?

प्र०—वे हैं बहुत और आप अकेले हो, कैसे संवाद कर सकोगे ?

उ०—इसके होने में कुछ असम्भव नहीं क्योंकि जब सब काशी और अन्यत्र के विद्वान् और बुद्धिमान् लोग अपना अभिप्राय पत्रस्थ कर वा सन्मुख जाके स्वामी विशुद्धानन्दजी वा बालशास्त्रीजी को विदित कराते जायेंगे और वे उन लेख वा वचनों को देख सुन उनमें से इष्ट को ले मुझसे सन्मुख वा पत्र द्वारा इन दो बातों में से जिसमें उनकी प्रसन्नता हो ग्रहण करके शास्त्रार्थ करें, उसी बात में मैं भी उनसे शास्त्रार्थ करने में उद्यत हूँ। परन्तु जैसे मैं इस पुस्तक पर अपना हस्ताक्षर प्रसिद्ध करता हूँ, वैसे वे भी करें तो ठीक है, अन्यथा नहीं।

प्र०—सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करने में अच्छा होगा वा पत्र द्वारा ?

उ०—सर्वोत्तम तो यह है जो मैं और वे सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करें, तो शीघ्र सत्य वा झूठ का सिद्धान्त[1] हो सकता है अर्थात् एक महीने से लेके छः महीने तक सब बातों का निर्णय हो सकता है और दूर-दूर रह कर पत्र द्वारा शास्त्रार्थ करने में ३६ छत्तीस वर्षों में भी पूरा होना कठिन है परन्तु जिस पक्ष में वे प्रसन्न हों, उसी में मैं भी प्रसन्न हूँ।

प्र०—इस शास्त्रार्थ के होने और न होने का क्या फल होगा ?

उ०—जो अविरोध होने से एक मत होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से सबको परमानन्द होना और न होने पर जो परस्पर विरुद्ध मिथ्या मत में वर्त्तमान मनुष्यों के अधर्म अनर्थ कुकाम और बन्ध के न छूटने से उनके दुःखों का न छूटना फल है।

* यह धार्मिक विद्वानों का काम नहीं है कि जिसको शरणागत लेवें, उसे छोड़ कर विश्वासघात कर बैठें॥

१. यहाँ 'निर्णय' पद होना चाहिए।

प्र०—शास्त्रार्थ हुए पर भी हठ से आप वा वे विरुद्ध मत न छोड़ें तो छुड़ाने का क्या उपाय है ?

उ०—शास्त्रार्थ से पूर्व मैं और वे जिसका पक्ष झूठा हो उसके छोड़ने और जिसका सत्य हो उसके स्वीकार करने के लिये प्रतिज्ञा का पक्के कागज पर लेख होकर रजिस्टरी कराकर एक दूसरे को अपने अपने पत्र को देने से सम्भव है कि आप अपना-अपना हठ छोड़ देवें क्योंकि जो न छोड़ेगा तो राजा अपनी व्यवस्था से हठ को छुड़ा सकता है।

प्र०—जब आप काशी में सब दिन निवास नहीं करते और स्वामी विशुद्धानन्दजी तथा बालशास्त्रीजी वहीं बसते हैं तो सन्मुख में शास्त्रार्थ कैसे हो सकता है ?

उ०—मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि जब वे सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करना स्वीकार करेंगे और इसको सत्य समझ लूँगा, तब जहाँ हूँगा वहाँ से चल के काशी में उचित समय पर पहुँचूँगा कि जिससे उनको परदेशयात्रा का क्लेश और धनव्यय भी न करना पड़ेगा। पुनः वहाँ यथावत् शास्त्रार्थ होकर सत्यासत्य निर्णय के पश्चात् सबका उपकार भी सिद्ध होगा, क्या यह छोटा लाभ है ?

प्र०—जब आप उनसे शास्त्रार्थ करके अपना मत सिद्ध किया चाहते और वे नहीं किया चाहते हैं, इसका क्या कारण है ?

उ०—विदित होता है कि वे अपने मन में जानते हैं कि शास्त्रार्थ करने से हम अपने मत को सिद्ध न कर सकेंगे वा सं० १९२६ के शास्त्रार्थ को देख घबराहट होगी कि दूर ही दूर से ढोल बजाना अच्छा है। जो उनको यह निश्चय होता कि हमारा वेदानुसार और स्वामीजी का मत वेदविरुद्ध है तो शास्त्रार्थ किये विना कभी नहीं रहते अथवा जो और कुछ कारण हो तो शास्त्रार्थ करने में क्यों विलम्ब करते हैं ?

आज से पीछे जो कोई पुराण वा तन्त्र आदि मत वाले मुझ से विरुद्ध पक्ष को लेकर शास्त्रार्थ किया चाहें वा लिख के प्रश्नोत्तर की इच्छा करें, वे स्वामी विशुद्धानन्दजी के और बालशास्त्रीजी के द्वारा ही करें। इससे अन्यथा जो करेंगे तो मैं उनका मान्य कभी न करूँगा। हाँ, सन्मुख आ के तो वे स्वयं भी पूछ सकते हैं।

इससे स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी ऐसा न समझें कि हम वेदों में विद्वान् वा सर्वोत्तम पण्डित हैं और कोई अन्य मनुष्य भी ऐसा निश्चय न कर लेवे कि इनसे अधिक पण्डित आर्यावर्त्त में दूसरा कोई भी नहीं है। हाँ ऐसा निश्चय करना ठीक है कि काशी में इस समय आधुनिक ग्रन्थाभ्यास-कर्त्ता संन्यासियों में स्वामी विशुद्धानन्दजी और गृहस्थों में बालशास्त्रीजी कुछ विशिष्ट विद्वान् हैं। मैंने तो संवाद में केवल अनवस्था दोष परिहारार्थ इन दोनों को सन्मुख[1] आर्यावर्त्तीय पण्डितों में माने हैं। अनुमान है कि उनको अन्य भी मनुष्य ऐसे मानते होंगे। इससे अन्य प्रयोजन भी कुछ नहीं।

सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी परमेश्वर कृपा करके स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी को निर्भय निःशङ्क करे कि जिससे वे मुझसे सन्मुख वा पत्र द्वारा पाषाणादि मूर्त्तिपूजादिमण्डन विषयों में शास्त्रार्थ करने में दृढ़ोत्साहित हों जैसे कि मैं उनके खण्डन में दृढ़ोत्साहित हूँ।

मुनिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे शुक्रे मासेऽसिते दले[2]।
द्वितीयायाङ्गुरौ वारे भ्रमोच्छेदो ह्यलङ्कृतः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीनिर्मित
आर्यभाषाविभूषितो भ्रमोच्छेदनोऽयं ग्रन्थः पूर्त्तिमगमत् ॥

---

१. यहाँ 'प्रमुख' पद चाहिए।

२. अर्थात् वि० सं० १९३७ ज्येष्ठमास कृष्णपक्ष द्वितीया २ गुरुवार। हमारे विचार में यहाँ शुक्रे के स्थान में 'शुचौ' (=आषाढ़) पाठ होना चाहिए। क्योंकि आषाढ़ कृष्ण २ गुरुवार १९३७ को यह प्रेस में भेजा गया है। द्र० पत्र व्यवहार पृष्ठ १९१ (द्वि० सं०)। इसी पत्र के अन्त से यह भी प्रतीत होता है कि सम्भवतः यह ग्रन्थ आषाढ़ कृष्णा २ को ही पूरा हुआ था। विशेष द्र० हमारा ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास पृष्ठ १२९-१३२।

॥ ओ३म् ॥

अनुभ्रमोच्छेदन ॥

यस्या नरो विस्यति वेदबाह्यास्तया हि युक्तं जनसेनया यत् ।
तन्नाम यस्यास्ति महोत्सवं स त्वनुभ्रमोच्छेदनमातनोति ॥ १ ॥

भूमिका ।

मैंने विचारा था कि राजाजी और स्वामीजी ने एक एक बार लिखा है, आगे इसका प्रपञ्च न बढ़ेगा, परन्तु वैसा न हुआ और उनके अनुगामी लोगों ने समाचारपत्रों को भी गर्जाया और बहुत योग्यायोग्य वाच्यावाच्य भी लिखना न छोड़ा और मैंने यह जान भी लिया कि स्वामीजी अपने नाम से इस पर कुछ भी न लिखें और न छपवावेंगे क्योंकि इस पर[1] श्रीयुत स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती और बालशास्त्रीजी की सम्मति नहीं लिखी ।[2] तथा अन्य किसी आर्य्य ने भी इसके प्रत्युत्तर में न लिखा । यह बात ठीक है कि स्वामीजी को तो इस पर लिखना योग्य ही नहीं, क्योंकि वे अपनी पूर्व प्रतिज्ञा से विरुद्ध[2] क्यों करें । जब ऐसा हुआ तब मैं यथामति इस पर लिखने में प्रवृत्त हुआ । यद्यपि इन महाशयों के सन्मुख मेरा लेख न्यूनास्पद है । तथापि अन्तःकरण से पक्षपात छोड़कर देखने से कुछ इससे भी तत्त्व निकलेगा और जो कुछ इसमें भूल चूक रहेगी उसको सज्जन महात्मा लोग सुधार लेंगे । अब जो राजा शिवप्रसादजी की यह प्रतिज्ञा है कि अब आगे इस विषय में कुछ न लिखा जायगा तो मुझको भी आगे लिखना अवश्य न होगा । जो राजाजी ने भ्रमोच्छेदन पर दूसरा भाग छपवाया है उसमें स्वामीजी के लेख पर निरर्थक आदि दोष दिये हैं उन और इन दोनों पुस्तकों के लेख को जब बुद्धिमान् लोग पक्षपात रहित होकर देखेंगे तब अवश्य निश्चय कर लेंगे कि कौन सत्य और कौन असत्य है ॥

इति भूमिका ॥

---

१. अर्थात् राजा शिवप्रसाद सितारै हिन्द द्वारा प्रकाशित द्वितीय निवेदन पर ।

२. श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भ्रमोच्छेदन के अन्त में लिखा है कि जब तक स्वा० विशुद्धानन्दजी और पं० बालशास्त्री के हस्ताक्षर न होंगे, वे राजा जी के पत्रों वा पुस्तिकाओं के उत्तर न देंगे ।

अनुभ्रमोच्छेदन

देखिये राजाजी के प्रिय और सुन्दर लेख को—

निवेदन पहिला, पृष्ठ १ पंक्ति ११—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका मँगा के पृष्ठ ९ से ८८ तक देखा। विचित्र लीला दिखाई दी, आधे-आधे वचन जो अपने अनुकूल पाये, ग्रहण किये हैं और शेषार्द्ध का, जो प्रतिकूल पाये, परित्याग, उन आधे अनुकूल में भी जो कोई शब्द अपने भाव से विरुद्ध देखे उन के अर्थ पलट दिये।

पृष्ठ ४, पंक्ति ७—ऐसा न हो कि (अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः) के सदृश केवल दयानन्दजी के भाष्य और भूमिका ही की लाठी थाँभे किसी अथाह गढ़े वा घोर नरककुण्ड में जा गिरें।

निवेदन २, पृष्ठ ७, पंक्ति २४—खेद की बात है, क्यों वृथा इतना कागज बिगाड़ा।

पृष्ठ ५ पंक्ति २५—निदान जब मैंने गोतम और कणाद के तर्क और न्याय से न अपने प्रश्नों का प्रामाणिक उत्तर पाया और न स्वामीजी महाराज की वाक्यरचना का उससे कुछ सम्बन्ध देखा डरा कि कहीं स्वामीजी महाराज ने किसी मेम अथवा साहब से कोई नया तर्क और न्याय रूस, अमरीका अथवा और किसी दूसरी विलायत का न सीख लिया हो।

इत्यादि वचन जो ये राजा शिवप्रसादजी ने अपने दोनों निवेदनों में लिखे हैं, क्या इनको सुवचन गालीप्रदान, कागज बिगाड़ना, आदि कोई भी मनुष्य न समझेगा ? मैंने राजा शिवप्रसादजी के दोनों निवेदनों और स्वामीजी के भ्रमोच्छेदन को भी देखा। प्रथम निवेदन में जो जो प्रश्न राजाजी के थे उस उस का उत्तर भ्रमोच्छेदन में यथायोग्य है ऐसा मैं अपनी छोटी विद्या और बुद्धि से निश्चित जानता हूँ। राजाजी और उनके साक्षियों की विशालबुद्धि है इसलिये उनके योग्य ठीक ठीक उत्तर न हुए होंगे। इसमें क्या अद्भुत है। अब मैं अपनी अल्प विद्या और बुद्धि के अनुसार द्वितीय निवेदन के उत्तर में थोड़ासा लिखता हूं।

निवेदन दूसरा, पृष्ठ ४ पंक्ति १९—भला सूर्य्य और घड़े की उपमा संहिता और ब्राह्मण में क्यों कर घट सकेगी उधर सूर्य्य के सामने कोई आधा घण्टा भी आँख खोल के देखता रहे अन्धा नहीं तो चक्षुरोग से अवश्य पीड़ित होवे इस दृष्टान्त से राजाजी का यह अभिप्राय झलकता है कि वेद को दिनभर भी आँख खोल के देखा करे तो न अन्धा और न नेत्ररोग से युक्त होता है।

यहाँ उनका ऐसा अभिप्राय विदित होता है कि यह दृष्टान्त स्वामीजी का यहाँ घट नहीं सकता। जहाँतक विचार के देखते हैं तो यही निश्चय होता है कि दृष्टान्त का साधर्म्य गुण ही दार्ष्टान्त में घटता है, सब गुण कर्म स्वभाव कभी नहीं। जैसे साध्यसाद्धर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्। न्या० अ० १। आ० १। सू० ३६। तद्विपर्य्ययाद्वा विपरीतम्। न्या० अ० १। सू० ३७। शब्दोऽनित्य इति प्रतिज्ञा, उत्पत्तिधर्मकत्वादिति हेतुः, उत्पत्तिधर्मकस्थाल्यादिद्रव्यमनित्यमिति दृष्टान्त उदाहरणम्। यह शान्तवृत्ति से देखने की बात है कि शब्द में अनित्यत्व धर्म साध्य है क्योंकि उत्पत्ति धर्मवाला होने से जो-जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं वे-वे सब अनित्य हैं। जैसे स्थाल्यादि द्रव्य उत्पत्ति धर्मवाले होने से अनित्य हैं, वैसे कार्य शब्द भी अनित्य हैं। यहाँ केवल स्थाल्यादि पदार्थों का उत्पत्ति धर्म ही कार्य शब्द में दृष्टान्त के लिये घटा के कार्य शब्दों को अनित्य ठहराया है यह तो कोई भी नहीं कह सकता कि घट पटादि पदार्थों में चक्षु से दीखना स्थूल कठोर और अन्धेरे में दीपक की अपेक्षा रहना आदि विरुद्ध धर्म हैं इसलिये उनका दृष्टान्त शब्द में नहीं घटेगा वा शब्द में भी वे धर्म हों कि दीपक जला के शब्द देखा जावे, राजाजी को अन्धेरे में दीपक से शब्द देखना उससे पानी आदि लाना चाहिये वा इस दृष्टान्त ही को न माने तो ऐसा दृष्टान्त कोई न मिलेगा कि जिसमें दार्ष्टान्त के सब धर्म

बराबर मिल जावें, और जो कोई पदार्थ ऐसे भी हों कि जिनके सब धर्म बराबर मिलें तो उनका परस्पर अभेदान्वय होने से उनमें दृष्टान्त दार्ष्टान्त तथा उपमान उपमेयभाव कुछ भी न बन सकेगा। अब यहाँ प्रकृत में यह आया कि वेद को सूर्य का दृष्टान्त दिया है तो सूर्य अपने प्रकाश में किसी की अपेक्षा नहीं रखता वैसे वेदों से भी जो अर्थ प्रकाशित होते हैं उनमें ग्रन्थान्तर की अपेक्षा नहीं है स्वयं प्रकाशत्व धर्म दोनों का समान है, और जैसे उत्पत्ति धर्मवाले न होने से आत्मादि द्रव्य नित्य हैं वैसा शब्द नहीं, क्योंकि उत्पत्ति धर्मवाला है यहाँ केवल वैधर्म्य अर्थात् कार्य शब्द के अनित्यत्व धर्म से विरुद्ध आत्मा का नित्यत्व धर्म ही दृष्टान्त के लिये घटाया है किन्तु जो आत्मा और शब्द के प्रमेयत्व आदि साधर्म्य हैं वे विवक्षित नहीं। जैसा राजाजी का दृष्टान्त विषयक मत है वैसा किसी विद्वान् का नहीं कि दार्ष्टान्त के सब धर्म दृष्टान्त में घट सकते हों।

निवे० २, पृष्ठ ५, पं० १६—राजाजी स्वामीजी से पूछते हैं कि स्वामीजी महाराज यह बतलावें कि पाणिनि आदि ऋषियों ने कहाँ ऐसा लिखा है कि मन्त्रसंहिता ही वेद हैं ब्राह्मण वेद नहीं है।

इसका उत्तर—अब यह ब्राह्मण शब्द लौकिक है वा वैदिक, इसके वैदिक होने में तो कोई प्रमाण नहीं मिलता, लौकिक होने में प्रमाण देखो॥

तत्र लौकिकास्तावत्—गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति। वैदिकाः खल्वपि—शन्नो देवीरभिष्टये, इषे त्वोर्जेत्वा, अग्निमीळे पुरोहितम्, अग्न आयाहि वीतय इति।

अब यहाँ अन्तःस्थ नेत्रों से देखना चाहिये कि वैदिक शब्द में केवल ४ मन्त्र संहिताओं के उदाहरण दिये हैं। जो ब्राह्मण भी वेद होते तो वैदिक शब्दों में उनका उदाहरण क्यों न देते ? अब कोई यह कहे कि लौकिक शब्दों में जिस ब्राह्मण शब्द का उदाहरण दिया है वह नपुंसकलिङ्ग न होने से ग्रन्थवाची शब्द नहीं है, किन्तु पुल्लिङ्ग होने से मनुष्यों में जातिविशेष का नाम है तो उससे पूछना चाहिये कि नपुंसकलिङ्ग ग्रन्थवाची ब्राह्मण शब्द का वैदिक शब्दों में पाठ क्यों न किया ? हाँ, प्रकरण से अर्थ की संगति होती है सो यहाँ किसी का प्रकरण नहीं है। यहाँ पतञ्जलिजी महाराज के प्रमाण से यह सिद्ध हो गया कि मन्त्रसंहिता ही वेद हैं ब्राह्मण नहीं। अब स्वामीजी पर जो प्रश्न था उसका तो यह उत्तर पतञ्जलि ऋषि के प्रमाण से हुआ, परन्तु वही प्रश्न राजाजी के ऊपर गिरता है कि राजाजी यह बतलावें कि पाणिनि आदि महर्षियों ने ऐसा कहाँ लिखा है कि मन्त्र और ब्राह्मणभाग दोनों वेद हैं अस्तु तावत्।

निवे० २, पृष्ठ ५, पं० १८—पाणिनि ने तो जहाँ मन्त्र और ब्राह्मण दोनों के लेने का प्रयोजन देखा स्पष्ट 'छन्दसि' कहा अर्थात् वेद में अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण दोनों में और जहाँ मन्त्र वा ब्राह्मण का प्रयोजन देखा 'मन्त्रे' वा 'ब्राह्मणे' कहा और जहाँ मन्त्र और ब्राह्मण अर्थात् वेद के सिवाय देखा वहाँ 'भाषायाम्' कहा।

राजाजी को यह लिखना तो सुगम हुआ, परन्तु निम्नलिखित प्रमाण पाणिनिसूत्र और वेदमन्त्र आदि का अर्थ करके अपने पक्ष में घटाना सुगम क्योंकर हो सकेगा। अब देखिये—छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि (अ० ४। पा० २। सू० ६६) इस सूत्र में प्रोक्त प्रत्ययान्त छन्द और ब्राह्मण को अध्येतृ-वेदितृ-विषयता विधान की है अर्थात् प्रोक्तप्रत्ययान्त छन्द और ब्राह्मण का अध्येतृ वेदितृ अभिधेय में ही प्रयोग हो स्वतन्त्र न हो। अब राजाजी के इस लेखानुसार कि 'जहाँ मन्त्र और ब्राह्मण दोनों के लेने का प्रयोजन देखा स्पष्ट "छन्दसि" कहा' इससे पाणिनि के इस सूत्र में ब्राह्मण ग्रहण व्यर्थ होता है। क्योंकि जो छन्द के कहने से मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का ही ग्रहण हो जाता, तो फिर यहाँ ब्राह्मण का पृथक् ग्रहण क्यों किया। इससे स्पष्ट ज्ञापक होता है कि छन्द से ब्राह्मण पृथक् है।

निवे० २, पृष्ठ ५, पं० २२ से—भला जैमिनि महर्षि के पूर्वमीमांसा को तो स्वामीजी महाराज मानते हैं उसमें

इन सूत्रों का अर्थ क्योंकर लगावेंगे। तच्चोदकेषु मन्त्राख्या (अ० १। पा० २। सू० ३२) शेषे ब्राह्मणशब्दः। (अ० २ पाद १। सू० ३३)।

इसका अर्थ बहुत स्पष्ट है वेद का मन्त्रों से अवशिष्ट जो भाग सो ब्राह्मण, यह अनुभवार्थ राजाजी ने शबर स्वामी की टीका में से सुना होगा, परन्तु यहाँ यह भी विचार करना उनको योग्य था कि इन सूत्रों के सम्बन्ध में कहीं वेदसंज्ञा निर्वचनाधिकरण है वा नहीं, किन्तु यहाँ तो केवल मन्त्रनिर्वचनाधिकरण और ब्राह्मणनिर्वचनाधिकरण है। इससे फिर मन्त्र और ब्राह्मण दोनों की वेदसंज्ञा है यह अभिप्राय कहाँ से सिद्ध हो सकता है। जो इस प्रकरण में ऐसा होता कि अथ वेदनिर्वचनाधिकरणम् तो राजाजी का अभिप्राय अवश्य सिद्ध हो जाता। परमात्मा ने वेदस्थ वाक्यों से सर्वविद्याभिधान कर दिया है अब इनमें शेष अर्थात् बाकी पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना, व्याख्या करनी-करानी आदि है और थी भी। जो थी सो ब्रह्मा से लेकर जैमिनिमुनिपर्यन्त महर्षि महाशय लोगों ने कर दी है जिससे ये ऐतरेय आदि ग्रन्थ ब्रह्म अर्थात् वेदों का व्याख्यान हैं इसीसे इनका नाम ब्राह्मण रक्खा है अर्थात् "ब्रह्मणां वेदानामिमानि व्याख्यानानि ब्राह्मणानि अर्थात् शेषभूतानि सन्तीति"। परन्तु जहाँ से इन सूत्रों के अर्थ में राजाजी आदि को भ्रम हुआ है सो शबर स्वामीजी की इसी सूत्र पर यह व्याख्या है—अथ किंलक्षणं ब्राह्मणम् ? मन्त्राश्च ब्राह्मणञ्च वेदः। विचार योग्य बात है कि न जाने शबर स्वामी ने इन दो सूत्रों में वेद शब्द कहाँ से लिया और इनकी अद्भुत कथा को देखिये कि (प्रश्न) ब्राह्मण का क्या लक्षण है ? (उत्तर) मन्त्र और ब्राह्मण वेद है। विद्वान् लोग विचार लेंगे कि जैसा प्रश्न किया था वैसा ही उत्तर शबर स्वामी ने दिया है वा नहीं ? यहाँ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं। किन्तु "आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे" इस न्याय के तुल्य यह व्याख्या है।

ऐसा ही निवेदन २, पृष्ठ ५, पं० २५—निदान जब मैंने गोतम और कणाद के तर्क और न्याय से न अपने प्रश्न का प्रामाणिक उत्तर पाया और न स्वामी जी महाराज की वाक्यरचना का उससे कुछ सम्बन्ध देखा, डरा कि कहीं स्वामीजी महाराज ने किसी मेम वा साहब से कोई नया तर्क और न्याय, रूस, अमरीका अथवा और किसी दूसरी विलायत का न सीख लिया हो।

स्वामीजी ने जो भूमिका में गोतम न्याय का प्रमाण वेद ब्राह्मण विषय में लिखा है[1] उसको वही पुरुष समझ सकता है कि जिसने उन ग्रन्थों की शैली देखी हो। बिना पढ़े सब विद्या किसी को नहीं आ जाती, और जिन्होंने उन शास्त्रों में अभ्यास ही नहीं किया वे ही ऐसा अनर्गल लिख सकते हैं कि 'गोतम और कणाद के तर्क न्याय से अपने प्रश्नों का प्रामाणिक उत्तर न पाया' इत्यादि। अब राजाजी को शास्त्रों में अभ्यास करना अवश्य हुआ, क्योंकि उनके प्रश्नों का उत्तर कोई नहीं दे सकता। और स्वामीजी महाराज जो किसी दूसरी विलायत का तर्क न्याय सीख भी लेते तो क्या आश्चर्य और कौन सा यह बुरा काम था और जो सीख लेते तो अपने ग्रन्थों में भी प्रमाण के लिये अवश्य लिखते वा लिखवा लेते। इससे स्पष्ट विदित होता है कि राजाजी ने ही उन विलायतियों से तर्क न्याय कुछ पढ़ा, नहीं तो इसका प्रसङ्ग ही क्या था। ठीक है, "यादृशी भावना यस्य बुद्धिर्भवति तादृशी"। इनके प्रश्नों का उत्तर जब ऋषि मुनियों के ग्रन्थों से भी न हुआ तो सब ऋषियों से बढ़ के राजाजी हो गये। इससे स्पष्ट सब महात्मा ऋषि लोगों की निन्दा आ जाती है।

निवे० २, पृष्ठ ६, पं० ४—फरिङ्गस्तान के विद्वज्जनमण्डलीभूषण काशीराजस्थापित पाठशालाध्यक्ष डाक्टर टीबो साहब बहादुर को दिखलाया। बहुत अचरज में आये और कहने लगे कि हम तो स्वामीजी महाराज को बड़ा पण्डित जानते थे पर अब उनके मनुष्य होने में भी सन्देह होता है। तब तो भ्रमोच्छेदन को भ्रमोत्पादन कहना चाहिये।

---

१. द्र० ऋ० भा० भू० रा. ला. क. ट्र. सं० पृ० ९६–९९।

बस अब तो राजाजी का पक्ष दृढ़तर सिद्ध हो गया होगा, क्योंकि जब उक्त महाशय साहब ने स्वामीजी के मनुष्य होने में संदेह और भ्रमोच्छेदन का भ्रमोत्पादन नाम होने की साक्षी दी है फिर क्या चाहिये, क्योंकि [विलायती] महाशयों की साक्षी भी गम्भीर आशययुक्त होती है क्या ऐसी साक्षी को कोई भी मनुष्य मानेगा कि स्वामीजी के मनुष्य होने में भी सन्देह है।

निवे० २, पृष्ठ ७, पं० २०—डाक्टर टीबो साहब की साक्षी का परामर्श यह देखिये चित्त धरके—दयानन्द सरस्वती सिवाय एक उपनिषद् के ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थों को छोड़ देते हैं और केवल संहिताओं को प्रमाण मानते हैं।

इसका उत्तर तो भ्रमोच्छेदन के पृष्ठ ११, पं० २०[1] में यह स्पष्ट लिखा है (परन्तु जो-जो वेदाऽनुकूल ब्राह्मणग्रन्थ हैं उनको मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूँ) जो उक्त साहब ध्यान देकर देखते तो सिवाय एक उपनिषद् के इत्यादि विरुद्ध साक्षी क्यों देते। निवे० २। पृष्ठ ७। इसी उत्तर और इसी विषय के आगे जो-जो उक्तसाहब ने लिखा है उस-उस का उत्तर उसी उसी उत्तर के आगे भ्रमोच्छेदन में लिखा है निवे० २। पृष्ठ ८। पं० १८ (निःसन्देह दयानन्द सरस्वतीजी को अधिकार नहीं कि कात्यायन के उस वचन को प्रक्षिप्त बतावें जिसके अनुसार मन्त्र और ब्राह्मण का नाम वेद सिद्ध होता है ऐसे तो जो जिस किसी वचन को चाहे अपने अविवेक कल्पित मत से विरुद्ध पाकर प्रक्षिप्त कह दें) मुझको अपनी अल्पबुद्धि से आज तक यह निश्चय था कि सत्याऽसत्य विचार करने का अधिकार सब विद्वानों को है जो यह राजाज्ञावत् डाक्टर टीबो साहब की सम्मति सत्य हो तो ऐसा हो जाय, किन्तु जो केवल एक डाक्टर टीबो साहब ने ही ठेका लिया हो कि अन्य सब को अधिकार है केवल स्वामीजी को नहीं, कि कौन प्रक्षिप्त और कौन नहीं ऐसा विचार करें जो ऐसा तो डाक्टर टीबो साहब को सम्मति देने और खण्डन मण्डन का अधिकार किसने दिया है? हम भी पूछ सकते हैं। अहो आश्चर्य्य इस सृष्टि में कैसी कैसी अद्भुत लीला देखने में आती है।

निवे० २, पृ० ९, पं० ५ सो मेरा तो अभिप्राय इतना ही है कि यदि ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार जमदग्नि आदि का अर्थ यों ही माना जावे तो संहिता के समान ब्राह्मणों को भी वेदभाग अथवा माननीय मानने में उन्हीं ब्राह्मणग्रन्थों की युक्तियां क्यों न मानी जावें।

जो इस बात का प्रमाण किया जावे तो यास्कमुनिकृत निघण्टु, निरुक्त, पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी, पतञ्जलि महामुनिकृत महाभाष्य और पिङ्गलाचार्य्यकृत पिङ्गलसूत्र वेदों के भाष्य वा टीका आदि को भी वेद क्यों न माना जावे, क्योंकि जैसे शतपथादि ग्रन्थों से वेदस्थ जमदग्नि आदि शब्दों के अर्थ चक्षु आदि माने जाते हैं वैसे ही निघण्टु और निरुक्त आदि से भी वैदिक शब्दों के संज्ञा और निर्वचन व्याकरण से शब्द अर्थ और सम्बन्ध और पिङ्गलसूत्रों से गायत्र्यादि छन्द, षड्जादि स्वर आदि की व्याख्या वेदों से अविरुद्ध मानी जाती है, तो इनकी वेदसंज्ञा कौन कर सकेगा।

निवे० २, पृष्ठ ९, पं० १०—सो यहाँ भी मेरा तो अभिप्राय इतना ही है कि वेद के नाम से मन्त्रभाग अर्थात् संहिता और ब्राह्मणों को मान कर जहाँ वेदों को अपरा कहा जाय वहाँ मन्त्र और ब्राह्मणों का कर्मकाण्ड और जहाँ वेदों को परा कहा जाय वहाँ मन्त्र और ब्राह्मणों का ज्ञानकाण्ड मानना चाहिये।

निवे० १, पृष्ठ ११, पं० १०—इसका अर्थ सीधा सीधा यह मान लेवें कि आपके चारों वेद और उनके छओं अङ्ग "अपरा" हैं जो "परा" उस से अक्षर में अधिगमन होता है अपना फिरावट का अर्थ वा अर्थाभास छोड़ दें।

निवे० १, पृष्ठ १२, पं० २०—नोट—कि चारों वेदसंहिता और उनके छओं अङ्ग अपरा हैं परा उनके सिवाय अर्थात् उपनिषद् हैं।

---

१. यह पृष्ठ संख्या प्रथम संस्करण की है। इस संग्रह में यह पाठ पृष्ठ ६७ पंक्ति ९ पर है।

मुझको बड़ा आश्चर्य हुआ कि यहाँ क्यों राजाजी ने अपने पूर्व लेख से अपर लेख को विरुद्ध लिखा। देखो, पहिले निवेदन में चारों वेद और छओं अङ्गों को अपरा और उपनिषदों को परा विद्या मानी थी और दूसरे निवेदन में चारों वेदों के कर्मकाण्ड को अपरा और उनके ज्ञानकाण्ड को परा विद्या मानी और दोनों निवेदनों का अभिप्राय यही है कि मन्त्रभागसंहिता और ब्राह्मणभाग को वेदसंज्ञा मानें इसलिये इतना परिश्रम उठाया और नोट में चारों वेदसंहिता अर्थात् मन्त्रसंहिताओं ही को वेद मानकर ब्राह्मणों को वेदसंज्ञा में लिखना भूल गये, दृष्टि कीजिये—तत्रापरा ऋग्वेदो, यजुर्वेदः, सामवेदो, अथर्ववेदः। राजाजी के इस लेख ने उन्हीं के अभिप्राय का निराकरण कर दिया। इसको न लिखते तो अच्छा था, क्योंकि इस लेख में ऋग्यजुः साम और अथर्व चार शब्द वाच्य मन्त्रभागसंहिताओं ही के साथ चार वार वेद शब्द का पाठ है। ऐतरेय शतपथ छान्दोग्य ताण्ड्य आदि और गोपथ ब्राह्मण ग्रन्थों की उस वचन में न परा न अपरा में गणना और न ऐतरेय आदि शब्दों के साथ वेद नाम का पाठ है। इसलिये यह पूर्वापर-विरुद्ध लेख है।

निवे० २, पृष्ठ ९, पं० १४—ऐसा ही आज तक वैदिक हिन्दू परम्परा से मानते चले आये हैं।

यहाँ भी मैं राजाजी से यह पूछता हूँ कि परम्परा और आज तक इस वाक्यावली का अभिप्राय सृष्ट्युत्पत्ति से लेकर आज तक का समय लिया जाय वा जैसा कि चार पाँच पीढ़ियों में परम्परा हो जाती है वैसी ग्रहण की जाय। जो प्रथम पक्ष है तो वैदिक के साथ आर्य शब्द लिखना उचित था अर्थात् वैदिक आर्य और जो चार पाँच पीढ़ी की परम्परा अभिप्रेत है तो लोकाचार से भी वैदिक हिन्दू लिखना ठीक नहीं क्योंकि भारतवर्षवासी मनुष्यों की हिन्दूसंज्ञा सिवाय यवनग्रन्थ और यवनाचार्यों की पाठशाला में पठनपाठनसंसर्ग के विना राजाजी को कहीं न मिलेगी और ऋग्वेद से लेकर पूर्वमीमांसापर्यन्त संस्कृत-ग्रन्थों में तो एतद्देश का नाम आर्यावर्त्त और इसमें रहने वाले मनुष्यों का नाम आर्य वा ब्राह्मण आदि संज्ञा ही मिलेंगी। परन्तु यह राजाजी को स्वात्मानुभव वा इस देशियों पर द्वेष अथवा आर्यावर्त्त देश से भिन्न देशस्थ विलायतियों से शिक्षा पाकर बोध हुआ होगा। यह साधारण बात नहीं, किन्तु जो यह वैदिक शब्दों के साथ हिन्दू शब्द का परम्परा में आज तक पढ़ देना। सो राजाजी को विदेशियों की विद्या और शिक्षा का अनुपम फल है।

निवे० २, पृष्ठ १०, पं० ९—भला आपके (शिवप्रसाद के) एक सहज से प्रश्न का तो उत्तर श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वतीजी से बना ही नहीं उत्तर के बदले दुर्वचनों की वृष्टि की, यदि काशीजी के पण्डित उनसे शास्त्रार्थ करने को उद्यत भी हों तो उत्तर के स्थान में उन्हें वैसे ही दुर्वचन पुष्पाञ्जलि का लाभ होगा इससे अतिरिक्त उसमें से कुछ भी सार नहीं निकलेगा।

इस पर मैं अपनी बुद्धि के अनुसार इतना ही लिखता हूँ कि जो श्रीयुत बालशास्त्रीजी "श्रीमान् पण्डितवरधुरन्धर अज्ञानतिमिरनाशनैकभास्करविशेषणयुक्त" ऐसा कहते हैं और ऐसा निश्चय हो तो स्वामीजी से उनके बड़े-बड़े गम्भीराशय प्रश्नों के उत्तर कभी न बन सकेंगे फिर इससे मेरी और अन्य लाखों किंवा करोड़ों मनुष्यों की यह इच्छा है कि जो कोई विद्वान् स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी के पक्ष को वेदादि शास्त्रों द्वारा निरस्त कर दे तो उनको क्या ही लाभ न हो पुनः उक्त महाशय इस में क्यों विलम्ब कर रहे हैं और दुर्वचन पुष्पाञ्जलि विषय में इतना ही मैं लिखता हूँ कि काशीस्थ लोगों ने दूषणमालिका, दयानन्द-पराभूति, चर्मकार भी स्वामीजी से उत्तम, गाली-सहस्रनाम आदि पुस्तक और दण्डनीय, आदि विज्ञापन समाचारों में छपवाया तथा ताली शब्द आदि और जैसा असभ्य अनर्थ लेख स्वामीजी पर किया है और स्वामीजी ने संवत् १९२६ के शास्त्रार्थ में किसको गालीप्रदान वा दुर्वचन पुष्पाञ्जलि की थी? और जैसे पक्षपात क्रोध रहित होने के लिये स्वामीजी को लिखते हैं तो राजाजी ने पक्षपात और क्रोधयुक्त स्वामीजी को कब देखा था? भला क्या पूर्वोक्त तो सुवचन पुष्पाञ्जलि है और स्वामीजी का लेख दुर्वचन पुष्पाञ्जलि कहा जा सकता है? डाक्टर टीबोसाहब बहादुर स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी के मनुष्य होने में भी

सन्देह लिखते हैं। क्या डाक्टर टीबोसाहब को अपने सहीस आदि नौकरों के तो मनुष्य होने में कुछ भी सन्देह नहीं, किन्तु केवल स्वामीजी के मनुष्य होने में संदेह करते हैं क्या यह बात अद्भुत गंभीराशय और असङ्गत नहीं है ? अहो क्या ऐसे ऐसे लेख को भी बुद्धिमान् लोग अच्छा समझेंगे। धन्य हैं! श्रीयुत शिवप्रसादजी वादी और धन्य हैं उनके साक्षी अर्थात् श्रीमज्जगत्-पूज्य स्वामी विशुद्धानन्दसरस्वतीजी श्रीमत् पण्डितवरधुरन्धर अज्ञानतिमिरनाशनैकभास्कर बालशास्त्रीजी महाराज आर्यजन और विद्वज्जनमण्डली-भूषण काशीराजस्थापितपाठशालाध्यक्ष डाक्टर टीबोसाहब बहादुर यूरोपियन्, कि जिन्होंने परस्पर मिलकर अपना अभीष्ट मत प्रकाशित किया है। क्या भला ऐसे ऐसे महाशयों के सामने मेरा लेख हास्यास्पद न होगा और क्या ऐसे ऐसे महात्माओं की साक्षी होने पर राजाजी के विजय होने में किसी को सन्देह भी रहा होगा ? वाह ! वाह !! वाह !!! जो कोई परपक्षनिषेध और स्वपक्ष सिद्ध करे तो ऐसे ही बुद्धिमत्ता से करे क्या सहायक अनुमतिदायक भी ऐसे होने योग्य हैं जहाँ अर्थी ही साक्षी और न्यायाधीश हों वहाँ जीत क्यों न होवे, क्यों न हो। क्या यही सत्पुरुषों का काम है कि जहाँतक बने दूसरे की निन्दा अपनी स्तुति करनी अपना सुकर्म समझना। हाँ मैं भी तो राजा शिवप्रसादजी और स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वतीजी वा बालशास्त्रीजी और डाक्टर टीबोसाहब बहादुर साक्षी आदि महाशयों के सामने स्वामीजी की मनमानी निन्दा और अप्रतिष्ठा करने में तत्पर होता, जो उनके प्रशंसनीय गुणकर्मस्वभाव न जानता होता, उनकी निन्दा और अपमान करने में कमती कभी करता। परन्तु वाल्मीकि मुनि ने कहा है कि सहवासी विजानीयाच्चरित्रं सहवासिनाम्। विना किसी के सङ्ग किये उसके गुण दोष विदित नहीं हो सकते। संवत् १९२८ से १९३७ के वर्ष पर्यन्त मेरा और स्वामीजी का समागम रहा है जितने वर्ष वा महीने स्वामीजी का सत्सङ्ग मैंने किया है और यथाबुद्धि थोड़े से वेद भी देखे हैं उतने दिन और उतने मुहूर्त्त भी उनका समागम राजाजी आदि ने न किया होगा। नहीं तो इतना अटाटूट विरोध कभी न करते। देखिये कई एक बड़े बड़े सेठ साहूकार रईस बुद्धिमान् पण्डित सज्जन लोग राजे महाराजे स्वामीजी को अत्यन्त मानते, श्रद्धा करते और उपदेश को भी स्वीकार करते हैं और बहुतेरे विरुद्ध भी हैं, तथापि कभी किसी का पक्षपात किसी से लोभ, किसी का भय, किसी की खुशामद, किसी से छल वा किसी से धन हरने का उपाय वा किसी से स्वप्रतिष्ठा की चेष्टा आदि अशिष्ट पुरुषों के कर्म करते इनको मैंने कभी नहीं देखा। और क्या जैसी सब की सत्य बात माननी और असत्य न माननी स्वामीजी की रीति है वैसी ही राजाजी आदि को मानने योग्य नहीं है! परन्तु इतने पर भी मैं बड़े आश्चर्य्य में हूँ कि राजाजी आदि महाशय निष्कारण ईर्ष्या और परोत्कर्षासहनरूप यानारूढ़ होकर स्वामीजी की बुराई करने में बढ़ते ही चले जाते हैं, न जाने कब और कहाँतक बढ़ेंगे। क्या इसका फल आर्य्यावर्त्तादि देशों की अनुन्नति का कारण न होगा ? क्यों न यह घर की फूटरूपी रसास्वादन का प्रवाह दुर्योधनरूप हलाहल सागर से बहता चला आता हुआ आर्य्यावर्त्तस्थ मनुष्यों के अभाग्योदयकारक प्रलय को प्राप्त अब तक न हुआ। क्यों इसको परमेश्वर अपने कृपाकटाक्ष से अब भी नहीं रोक देता कि जिससे हम सब सर्वतन्त्र सिद्धान्तरूप प्रेमसागरामृतोदधि में स्नान कर त्रिविध ताप से छूटकर परमानन्द को प्राप्त हों जैसे द्वीपद्वीपान्तर के वासी मुसलमान, जैन, ईसाई आदि मनुष्य अपने स्वदेशी और स्वमतस्थों को आनन्दित कर रहे हैं। क्या ऐसे हम लोगों को न होना चाहिये, प्रत्युत सब देशस्थ समग्र मनुष्यादि प्राणिमात्र के लिये परस्पर उपकार विद्या शुभाचरण और पुरुषार्थ कर अपने पूर्वज कि जिन महाशय आर्यों के हम सन्तान हैं उनका दृष्टान्त अर्थात् उपमेय न हों। और जैसी उनकी कीर्ति और प्रतापरूप मार्त्तण्ड भूगोल में प्रकाशित हो रहा था उनका अनुकरण क्यों न करें। और इसमें आश्चर्य्य कोई क्यों मानें कि राजाजी और उनके अनुयायी साक्षी स्वामीजी को अविद्वान् पशु अन्धे आदि यथेष्ट शब्दों से निन्दा करते हैं।

मैं निश्चित कहता हूँ कि स्वामीजी की [ऐसी] निन्दा अप्रतिष्ठा और विरोधता किसने नहीं की। काशी में संवत् १९२६ वें वर्ष में उन पर हल्ला किया, संखिया मिलाकर पानबीड़ा दिया, बुरी बुरी निन्दा के पुस्तक और विज्ञापन दिये, कई ठिकाने मारने को आये, ऊपर पत्थर और धूल फेंकी, जिले बुलन्दशहर करणवास के समीप जहाँ स्वामीजी रहते थे, वहीं किसीने रात के १ बजे के समय १० आदमी तलवार और लट्ठ लेकर मारने को भेजे, कई नास्तिक कहते, कई क्षीण बतलाते, कई क्रोधी और कई पशुवत् नीच विशेषण देते, कई उनका मुख देखने में पाप बतलाते और पास जाने को अच्छा नहीं कहते, कोई कलि का अवतार, कोई कल मरते आज ही मरजाय तो अच्छा, कई मजिस्ट्रेटों के कान भर व्याख्यान बन्द करा देने में प्रयत्न कर चुके और कोई इनके बनाये पुस्तक भी हाथ में न लेना न देखना, कई अपने बाग बगीचों में उनका रहना भी स्वीकार नहीं करते, कई वेश्या का मुख देखने, सङ्ग करने और पुंश्चि मैथुनाचरण में भी अपना धन्य जन्म मानते और औरों को उत्साहित करते हैं और स्वामीजी के दर्शन और संग उससे भी बुरा बतलाते हैं, कई स्वामीजी और स्वामीजी के उपदेश मानने वालों को महानरक में गिरना चितलाते हैं, आप गौतम और कणादादि महाशयों से अपने को बुद्धिसागर ठहराते और स्वामी को निर्बुद्धि सहज प्रश्नों के उत्तर के अदाता कहते और कई चमार चाण्डाल आदि में विद्वत्ता और मनुष्य होने की शङ्का नहीं करते और स्वामीजी में विद्वत्ता के होने और मनुष्यपन में भी शङ्का बतलाते हैं, कोई रेल का भाड़ा भी नहीं लगता, ऐसा कहते हैं। अब कहाँतक इस लम्बी गाथा को कहूँ। मैं ऐसी बातें सुनता और लिखता हुआ थकित हो गया, क्या ये पूर्वोक्त बातें आर्यावर्त्त के दौर्भाग्य के कारण नहीं हो रही हैं ? तथापि धन्य है स्वामीजी को, इतने हुए पर भी सनातन वेदोक्त आर्योन्नति के यत्नों से विरक्त न होकर परोपकार से अपना जन्म सफल कर रहे हैं। भला जो धर्म और परमात्मा की कृपा न होती और परमत द्वेषी स्वमतानुरागी क्षुद्राशय लोगों का राज्य होता तो स्वामीजी का आज तक शरीर बचना भी दुस्तर न हो जाता ? क्या जो आर्य लोग भी मुसलमान आदि के तुल्य होते तो अब तक स्वामीजी का मुख और हस्त वेदभाष्यादि पुस्तक लिखने के लिये आज तक कुशल रह सकते ? और जो स्वामीजी में पक्षपातराहित्य सत्यता विद्वत्ता शान्ति निन्दा स्तुति में हर्ष शोक रहितता न होती और विमलविद्याप्रगल्भता धार्मिकता आप्तत्वादि शुभ गुण न होते तो ऐसे ऐसे सनातन वेदोक्त सत्य धर्मोपदेशादि प्रशंसनीय आर्योन्नति के दृढ़ कारण प्रकाशित और सुस्थिर कभी न कर सकते क्योंकि देखो आर्यावर्त में प्रशंसनीय महाशय विद्वानों के विद्यमान रहते भी आर्यावर्त्तीय मनुष्यों की वेदोक्त धर्माढ्यता प्राचीन अभ्युदयोदय प्रच्छन्न क्यों रह जाता ? क्या प्रत्यक्ष में भी भ्रम है कि देखिये जो हम आर्यों को विना आसमानी किताब[1] वाले बुतपरस्त, नालायक, इनके मत का कुछ भी ठिकाना नहीं, आदि आक्षेपों से जैन मुसलमान और ईसाई लाखह क्रोड़ह बहका के अपने मत में मिलाते और कहते थे कि आओ हम से वादविवाद करो हमारा मज़हब सच्चा और तुम्हारा झूंठा है वे ही अब स्वामीजी के सामने वेदादि शास्त्रों और तदुक्त आर्य्यधर्म का खण्डन तो दूर रहा, परन्तु वाद करना भी असह्य समझते और कहते हैं कि आप हम पर प्रश्न मत कीजिये डरते हैं। स्वामीजी के सन्मुख तो ऐसा है परन्तु जिन्होंने स्वामीजी के ग्रन्थ देखे और उनका समागम यथावत् किया है उनके भी सामने वे विजयवन्त नहीं हो सकते, इत्यादि। जो राजाजी आदि स्वामीजी के स्तुत्य गुणकर्म स्वभाव जानते तो उनके साथ ऐसा विरुद्ध वर्त्तमान कभी न करते। सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापक सर्वनियन्ता जगदीश्वर सब आर्यों के आत्माओं में परस्पर प्रीति गुण स्वीकार दोषपरिहार वेदविद्योन्नतिरूप कल्पवृक्ष और चिन्तामणि को सुस्थिर करे, जिससे सब आर्य्य भाई उसको परस्पर प्रेम और उपकाररूप

१. अर्थात् ईसाई और मुसलमान।
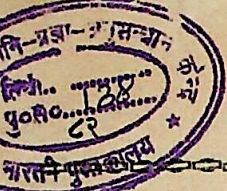
सुन्दर जल से सींचकर उसके आश्रय से प्राचीन आर्य्यपदवी को पाकर आनन्द में सदा रहें और सब को रक्खें ॥

राजाजी का बनाया इतिहास मैंने देखा, तो अद्भुत बातें दिखाती हैं। इनसे यह भी प्रसिद्ध है है कि जो स्वश्लाघा और अभिमान करेगा तो इतना ही करेगा निम्न लेख से यह बात सबको विदित हो जायगी, क्योंकि इङ्गित चेष्टित से मनुष्य का अभिप्राय गुप्त नहीं रह सकता। राजाजी का कुछ अभी ऐसा वर्त्तमान है सो नहीं, किन्तु स्वभावो नान्यथा भवेत् जैसा स्वभाव मनुष्य का होता है वह छूटना दुस्तर है। जो उन्होंने इतिहासतिमिरनाशक ग्रन्थ बनाया है उसको कोई विद्वान् पक्षपातरहित सज्जन पुरुष ध्यान देकर देखे तो राजाजी की मानसपरीक्षा और सौजन्य विदित अवश्य हो जावे कि इनका क्या अभीष्ट है। उसमें अप्रमाण वेदादिशास्त्राभिप्रायशून्य बहुत बातें हैं और कुछ अच्छी भी हैं जो अच्छी हैं उनका स्वीकार और जो अन्यथा हैं उनके संक्षेप से दोष भी प्रकाशित करता हूँ, जैसे मुझ को विदित होता है।

इतिहासतिमिरनाशक पृष्ठ १ पंक्ति ११—बाप, दादा और पुरखा तो क्या हम इस ग्रन्थ में उस समय से लेकर जिससे आगे किसी को कुछ मालूम नहीं आज पर्य्यन्त अपने देश की अवस्था लिखने का मंसूबा रखते हैं।

राजाजी थोड़ासा भी सोचते तो इतना अपना गौरव अपने हाथ से लिखने में अवश्य कम्प जाकर रुक के यथार्थ बात को समझ सकते। क्या अपने पुरुखों से स्वयं उत्तम और सब आर्य्यावर्त्तवासियों को इतिहासज्ञान विषय में निकृष्ट अज्ञानी कर स्वश्लाघी स्वयं नहीं बने हैं ? क्या कोई भी पूर्ण विद्वान् स्वमुख से अपनी कीर्ति को कह सकता है ? यह सच है कि जितना-जितना विद्याविनय मनुष्य को अधिक होता है उतना-उतना वह सुशील, निरभिमानी, महाशय होता और जितना जितना वह कम विद्वान् होता है उतनी-उतनी उसको कुशीलता, अभिमान और स्वल्पाशयता होती है।

इतिहास पृष्ठ १, पं० १९—पुराना हाल जैसा इस देश का बेठौर ठिकाने देखने में आता है विरले किसी दूसरे देश का मिलेगा।

वाह ! वाह !! वाह !!! न जाने किस देश की पाठशाला में इतिहासों को पढ़ के राजाजी को अपूर्व-विज्ञान हुआ क्या यूरोप अमेरिका एफ्रीका आदि देशों के पूर्व इतिहासों से भी आर्यावर्त्त देश का प्राचीन इतिहास बुरा है ? यह भी इनका लेख आर्य लोगों को ध्यान में रखना चाहिये।

इतिहा० पृष्ठ ३, पंक्ति २—आगे संस्कृत श्लोक बनाते थे अब भाषा में छन्द और कवित्त बनाते हैं क्योंकि गद्य का कण्ठस्थ रखना सहज है निदान ये भाट इसी में बड़ाई समझते हैं।

क्या ही शोक की बात है कि मनु, वाल्मीकि, व्यास प्रभृति ऋषि महर्षि महात्मा महाशय ब्राह्मण लोगों को तो राजाजी भाट ठहराते हैं और आप महात्माओं के निन्दक और उपहासकर्त्ता होकर नकली की पदवी को धारण करते हैं। विदित होता है कि आर्य्यावर्त्तीय धार्मिक आप्तपुरुषों की निन्दा और विदेशियों की अत्युक्ति सदृश स्तुति ही से राजाजी प्रसन्न बनते हैं।

इतिहा० पृष्ठ ४, पं० ३०—हाय हमारे देश में इतना भी कोई समझनेवाला नहीं।

सिवाय आप के ऐसी-ऐसी गूढ़ बातों के मर्म को कौन समझ सकता है ? तब ही तो आप सब से बड़ा मंसूबा बाँध कर इतिहास लिखने को प्रवृत्त हुए।

इतिहा० पृ० १०—बहुतेरे हिन्दू यह भी कहेंगे कि जो बात पोथी में लिखी गई और परम्परा से सब हिन्दू मानते चले आये भला अब वह क्योंकर झूँठ ठहर सकती है।

भला यहाँ तो हिन्दुओं की परम्परा का तिरस्कार राजाजी कर चुके और दोनों निवेदनों में ब्राह्मण पुस्तकों को वेद मानने के लिये स्वीकार किया है। ठीक है मतलब सिन्धु ऐसी हो चतुराई से पूरा करना होता है।

इतिहा० पृष्ठ १२, पं० १ से लेकर पृष्ठ १४, पं० ११ तक—बौद्ध जैन हिन्दुओं के मतविषयक बातें लिखी हैं इससे विदित होता है कि राजाजी का मत बौद्ध जैनी ही है। इसीलिये अपने मत की प्रशंसा वैदिकमत की निन्दा मनमानी की है। यह इन को अच्छा समय मिला कि कोई जाने नहीं और वैदिक मत की जड़ उखाड़ने पर सदा इनकी चेष्टा है। पुनः स्वामीजी जो सनातन रीति से वेदों का निर्दोष सत्य अर्थ ठीक-ठीक प्रकाशित कर रहे हैं इनको अच्छा कब लग सकता है। इसीलिये निवेदनों[1] में भी अपनी सदा की चाल पर राजाजी चलते हैं इसमें क्या आश्चर्य है?

इतिहा० पृष्ठ १५, पं० १—हिन्दुओं की प्राचीन अवस्था…।

यह बड़ा अनर्थ राजाजी का है कि आर्यों को हिन्दू और पारस देश से आये हैं। पहिली बात तो इन की निर्मूल है क्योंकि वेदों से ले के महाभारत तक किसी ग्रन्थ में आर्यों को हिन्दू नहीं लिखा। कौन जाने राजाजी के पुरुखे पारस देश से ही इस देश में आये हों और उनका परम्परा से स्वदेश पारस का संस्कार अब तक चला आया हो। क्या यह बात असम्भव है कि इस आर्य्यावर्त्त हो से कोई मनुष्य पारस देश में जा रहे हों क्योंकि पारस देश में उत्पन्न हुई मद्री पाण्डु राजा से विवाही थी उसी समय वा आगे पीछे वहाँ से यहाँ और यहाँ से वहाँ आ जा रहने का सम्भव हो सकता है और क्या जो पारस देश से आकर ही बसे होते तो पारसी लोगों वा ईरानवालों के प्राचीन इतिहासों में स्पष्ट न लिखते?

इतिहा० पृ० १५, पं० ५—असुर को अहुर। नोट—पं० १३—यहाँ भी ऋग्वेद के आरम्भ में असुरः असुर का अर्थ सुर लिया है और उसे सूरज का नाम माना है। प्राणदाता असुरः सर्वेषां प्राणदः। असुर राक्षस के लिये तभी से ठहराया गया जब से सुर, देव, देवता के लिये ठहरा इत्यादि।

धन्य है—मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी, इस में तो कुछ दोष नहीं कि असुर को वे पारसी लोग अहुर कहैं, परन्तु जो बातें ऋग्वेद के नाम से राजाजी ने लिखी हैं सब निर्मूल हैं। क्योंकि ऋग्वेद के आरम्भ में तो 'असुरः प्राणदाता, असुरः सर्वेषां प्राणदः' ये नहीं हैं। किन्तु ऐसा पाठ ऋग्वेद भर में कहीं नहीं है। क्या आश्चर्य है कि ईरान वाले जिद्द से देव को राक्षस कहते हों।

इतिहा० पृ० १५, पं० ७—हिन्दू अपने तईं दूसरी जाति के लोगों से जुदा रहने के निमित्त आर्य पुकारते थे और इन्हीं के बसने से यह देश हिमालय से विन्ध्य तक आर्य्यावर्त्त कहलाया। पारस देश वाले भी आर्य थे, वरन इसी कारण उसको अब भी ईरान कहते हैं। क्या अद्भुत लीला है ईरानवाले तो अब तक ईरानी, पारस वाले पारसी ही बने रहे, आर्य नाम वाले क्यों न हुए। कैसा झूँठ लिखा है कि अपने जुदा रहने के लिये आर्य पुकारते थे। जो ऋग्वेद की कथा भी राजाजी ने सुनी होती तो—विजानीह्यार्य्यान्ये च दस्यवः, उत शूद्र उतार्य्ये। इनका अर्थ यही है आर्य्य श्रेष्ठ और दस्यु दुष्ट, आर्य्य द्विज और शूद्र अनार्य को कहते हैं इसको जानते तो ऐसा अनर्थ क्यों लिख मारते। जो ईरान से आर्य्य हो जाता है तो (आरा) और (अरि) आदि शब्दों से आर्य्य सिद्ध करने में किसी को राजाजी न अटका सकेंगे। ऐसे बहुत पुरुष अपनी प्रशंसा के लिये विदेशियों की झूंठी खुशामद किया ही करते हैं।

इतिहा० पृष्ठ १५, पं० २८—ईरान की पुरानी पारसी भाषा में एक प्रकार की संस्कृत थी अर्थात् उसी जड़ से निकली थी, जिससे संस्कृत निकली है। भला पारसी पढ़े विना ऐसी-ऐसी गुप्त जड़ों की खोज राजाजी न करते तो कौन करता। जो थोड़ा-सा भी विचार करते तो श्रेष्ठ गुणों से आर्य्य और किसी एक मनुष्य का नाम है आर्य्य, उससे और इस देशवालों से क्या सम्बन्ध हो सकता है? जितने दृष्टान्त संस्कृत पुरानी पारसी के उदाहरण दिये हैं ये सब संस्कृत से पुरानी पारसी बनी है, यह ठीक है। क्योंकि पारसदेश का नाम निशान भी न था, तब से आर्य्य और आर्य्यावर्त्त देश है। जब पाण्डवों ने राजसूय यज्ञ किया है तब यवन देश के सब राजा आये थे। उसी ईरान का राजा शल्य भी महाभारतयुद्ध में

---

१. निवेदन नाम की पुस्तकों में।

आया ही था। इसलिये राजाजी का ऐसा अनुभव केवल पारसी भाषा पढ़ने से हुआ है संस्कृत से नहीं।

इतिहास पृष्ठ १६, पं० २ से—ये आर्य्य उस समय सूर्य्य के उपासक थे, वेद में सूर्य्य की बड़ी महिमा गायी है। हिन्दुओं का मूलमन्त्र गायत्री इसी सूर्य्य की वन्दना है। विष्णु इसी सूर्य्य का नाम है। राजाजी का स्वभाव सब से विलक्षण है, कोई कहता हो दिन, तो वे रात कहें। यद्यपि वेदों में सूर्य्य शब्द से परमेश्वर आदि कई अर्थ प्रकरण से भिन्न-भिन्न कहे हैं परन्तु उपासना में सूर्य्य शब्द से जिसको गायत्री मन्त्र कहता और जो व्यापकता से विष्णु है वहाँ परमेश्वर ही लिया है, अन्यत्र भौतिक।

इतिहा० पृष्ठ १८, पं० १—आकाश को इन्द्र ठहराया।

वेदों में इन्द्र शब्द से आकाश का ग्रहण कहीं नहीं किया है। हां राजाजी ने अपनी कल्पना से समझा होगा।

इतिहा० पृष्ठ १८, पं० ३—गाय, बैल, घोड़ा, भेड़ और बकरी इत्यादि का बलि देते थे और उनका मांस भून-भून और उबाल-उबाल कर खाते थे। नोट—ऋग्वेद में एक अश्वमेध का हाल यों लिखा है घोड़े के आगे रङ्ग-विरङ्ग की बकरियाँ रख कर उससे अग्नि की परिक्रमा दिलाई और खम्भे से बाँध-कर और फरसे से काट कर उसका गोस्त सींक पर भूना और उबाला और गोले बना कर खा गये। हाय! ऐसे अनर्थ लेख से वेद और आर्य्यों की निन्दा कर राजाजी ने संतुष्टि क्यों की? क्योंकि गाय आदि पशुओं का मारना वेदों में कहीं नहीं लिखा, न शराब का पीना और अश्वमेध का ऐसा हाल कहीं भी नहीं लिखा। राजाजी ने वाममार्गियों के सङ्ग से ऐसी बात, कि जिससे वेदों की निन्दा हँसी हो, लिखी होगी।

इतिहा० पृष्ठ १९, पं० १२—वर्णभेद शुरू में दो ही रहा होगा अर्थात् गोरा और काला वर्ण का अर्थ रङ्ग है। वाह क्या चतुराई की छटा झलक रही है क्या गोरे और काले के बीच में कोई भी रंग नहीं होता और वर्णे वाहुः पूर्वसूत्रे, वर्ण नाम अक्षर, वर्ण नाम स्वीकार अर्थ क्या नहीं होते स्वार्थी दोषन्न पश्यति, हां, यह हो तो हो कि विना गोरों की प्रशंसा के स्वार्थसिद्ध क्योंकर होता।

इतिहा० पृष्ठ २० से लेके अङ्गरेज़ के पैर पकरने अर्थात् ग्रन्थ की समाप्ति पर्य्यन्त राजाजी ऐसी चाल चलन से चले हैं कि जिससे इस देश की बहुत बुराई और कुछ अन्य देशों की भी वेदादिशास्त्रों की निन्दा और जैनमत की इंगित से प्रशंसा और अङ्गरेजों की प्रशंसा में जानों सब भाटों के प्रपितामह ही बन रहे हैं। क्या ही शोक की बात है कि इतिहासतिमिरनाशक के तीसरे खण्ड में कितने बड़े वेद आदि शास्त्रों और आर्य्य तथा आर्य्यावर्त्त देश की निन्दा लिख कर छपवाई है तो भी राजाजी के चरित्र पर किसी आर्य्य विद्वान् ने विचार कर प्रत्युत्तर नहीं किया। मैंने अल्पसामर्थ्य से "स्थालीपुलाकन्याय" के समान थोड़ा-सा नमूना राजाजी का दिखलाया है। इतने ही से सब बुद्धिमान् राजाजी के और मेरे गुण दोषों का विचार यथावत् कर ही लेंगे। जिन्होंने वेद और आर्य्यावर्त्त की गर्हा करनी ही अपनी बड़ाई समझ ली है तो स्वामीजी की निन्दा करें इसमें क्या आश्चर्य है? सर्वशक्तिमान् परमात्मा परमदयालु सब पर कृपा रक्खे कि कोई किसी की निन्दा न करे, सत्य को माने और झूठ को छोड़ दे। मेरा यहाँ यह अभिप्राय नहीं है कि किसी की व्यर्थ निन्दा न करूं वा मिथ्या स्तुति। हां इतना कहता हूं कि जितनी जिसकी समझ है उतना ही कह और लिख सकता है। मेरी धार्मिक विद्वानों से प्रार्थना है कि जो कुछ मुझसे अन्यथा लेख हुआ हो तो क्षमा करें और अपनी प्रशंसनीय विद्यायुक्त प्रज्ञा से उसको शुद्ध कर लेवें, इस पर सत्य-सत्य परामर्श का प्रकाश कर आर्यों को सुभूषित करें॥

ऋषिकालाङ्कभूवर्षे तपस्यस्याऽसिते दले।
दिक्तिथौ वाक्पतौ ग्रन्थो भ्रमच्छेत्तमकार्य्यलम्॥
इति भीमसेनशर्म्मकृतोऽनुभ्रमोच्छेदनो ग्रन्थः पूर्णः॥

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के विविध संस्करण एवं तत सम्बन्धी साहित्य

[संग्रहकर्ता—प्रा. भवानीलालजी भारतीय, एम. ए., गवर्नमेंट कालेज, पाली]

[१] विविध-संस्करण—

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—वैदिक यंत्रालय, अजमेर।
२. " सार्वदेशिक प्रकाशन, दिल्ली, २०१५ वि.।
३. " आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर।
४. वेदतत्त्वप्रकाश—पं. सुखदेव विद्यावाचस्पति द्वारा सम्पादित, गोविन्दराम हासानन्द, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित संस्करण १९९२ वि.
५. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—(संस्कृत मूल मात्र) वैदिक यंत्रालय, अजमेर १९६० वि.
६. " रामलाल कपूर ट्रस्ट का संस्करण (सं. युधिष्ठिर मीमांसक)

[२] विभिन्न भाषाओं में अनुवाद—

१. ऋग्वेदादिभाष्भूमिका गुजराती अनुवाद
२. " मराठी अनुवाद
३. " अंग्रेजी अनुवाद (अनुवादक पं. घासीराम, एम. ए.)
४. " " (" डा. परमानन्द एम. ए., कुरुक्षेत्र वि० वि०)

[३] भूमिका के संक्षिप्त संस्करण—

१. वेदभाष्यभूमिकासंग्रह—सम्पादक दलपतराय विद्यार्थी, डी. ए. वी. कालेज, लाहौर, १८९५ ई०
२. बाल ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—सं. श्रीनिवास शास्त्री, आर्य पुस्तकालय, मेरठ
३. बाल ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—पं. विश्वनाथ विद्यालंकार, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली

[४] भूमिका के खण्डन में लिखे गये ग्रन्थ—

१. महामोह-विद्रावण—ले. राममोहन शर्मा (वस्तुतः काशी के पण्डितों द्वारा लिखा गया यह संस्कृत ग्रन्थ स्वामी जी के संहिता भाग ही वेद हैं, ब्राह्मण नहीं, इस मत की आलोचना में लिखा गया था)
२. भूमिकाभास—गोस्वामी घनश्याम शर्मा, आगरावासी (संस्कृत में लिखा गया)
३. ऋगादिभाष्यभूमिकेन्दु—महन्त ब्रह्मकुशलदास—१८९१ ई० (१६ भागों में पूर्ण)
४. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां प्रश्नमालिका—आर्यसमाजस्थ महाशयानः प्रति—पं. शिवचन्द्र इन्द्रप्रस्थ निवासी
५. पाखण्डमतखण्डन-कुठार—महन्त रघुवीरदास, प्रेसीडेन्ट सद्धर्म प्रचारिणी सभा, हाजीपुर (पंजाब)

[५] खण्डनात्मक ग्रन्थों के उत्तर में लिखे गये ग्रन्थ—

१. भूमिकाभास—द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री (बम्बई में १९८१ वि. में छापी) भूमिकाभास का उत्तर
२. ऋगादिभाष्यभूमिकेन्दुपराग—प्रथम अंश पं. देवीदत्त शर्मा, कानपुर } महन्त ब्रह्मकुशलदास
३. " द्वितीय भाग पं. तुलसीराम स्वामी, मेरठ } की पुस्तक की समीक्षा
४. महामोहविद्रावण का उत्तर—संस्कृत और हिन्दी में पं० भीमसेन शर्मा ने आर्य सिद्धान्त में दिया।
५. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां प्रश्नमालिका का उत्तर—पं० तुलसीराम स्वामी ने आर्य सिद्धान्त में दिया।
६. पाखण्डमतखण्डन-कुठार का उत्तर—पं० भीमसेन शर्मा ने आर्य सिद्धान्त में दिया।

ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य का स्वरूप स्वशब्दों में

वेदभाष्यविषयक प्रतिज्ञा विषय

[याज्ञिक-आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक अर्थों का विस्तार से वर्णन क्यों नहीं करते ?]

(१) इस वेदभाष्य में कर्मकाण्ड का वर्णन (=याज्ञिक अर्थ) शब्दार्थ रूप से करेंगे। परन्तु कर्मकाण्ड में लगाए इन वेदमन्त्रों से जहाँ अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त जो-जो कर्तव्य है उस-उस का यहाँ विस्तार से वर्णन नहीं करेंगे। क्योंकि कर्मकाण्ड के अनुष्ठान का ऐतरेय शतपथ आदि ब्राह्मण, पूर्वमीमांसा तथा श्रौतसूत्रादि में यथार्थ-रूप में विनियोग कहा हुआ है और उसके [इस वेदभाष्य में] पुनः प्रतिपादन से अनृषिकृत ग्रन्थों के समान पुनरुक्त पिष्टपेषण दोष की प्राप्ति होने से। इसलिए युक्तिसिद्ध वेदादिप्रमाणानुकूल मन्त्रार्थ के अनुसार उक्त ग्रन्थों में कहा विनियोग ग्रहण करने के योग्य है।

(२) इसी प्रकार से उपासना काण्ड (=आध्यात्मिक अर्थ) का प्रकाश भी प्रकरण और शब्द के अनुसार ही करेंगे। क्योंकि इसका एक ही स्थान पर विशेष पातञ्जलयोग शास्त्रादि के द्वारा जानने योग्य है इस कारण [विस्तार से नहीं कहेंगे]।

(३) इसी प्रकार ज्ञानकाण्ड [=आधिदैविक अर्थ] का भी [वर्णन शाब्दिक रूप से ही करेंगे] क्योंकि इस [काण्ड] का विशेष सांख्य वेदान्त उपनिषद् आदि शास्त्रों में कहा हुआ देखना चाहिए।

(४) इस प्रकार जहाँ तीनों काण्डों के बोध से [कला-कौशल आदि की] निष्पत्ति (=सिद्धि) और उपकार ग्रहण किया जाता है वह विज्ञान काण्ड (=भौतिक अर्थ) कहाता है।

परन्तु इन चारों काण्डों का वेद के अनुसार विस्तार उनके व्याख्यान ग्रन्थों में है। उसे ही अच्छे प्रकार परीक्षा करके [वेद से] अविरुद्ध अर्थ ग्रहण कर लेना चाहिए। क्योंकि मूल के अभाव में (=वेद में इनका विधान न होने पर) शाखादि (=तत्तत् विषय के ग्रन्थों में विस्तार) की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

[किस प्रकार का मन्त्रार्थ लिखा जाता है ?]

इस वेदभाष्य में मन्त्रों का संस्कृत प्राकृत (=आर्यभाषा=हिन्दी) भाषाओं में एक-एक पद का सप्रमाण अर्थ लिखा जाता है। जहाँ-जहाँ व्याकरणादि प्रमाणों की आवश्यकता होती है वह भी लिखा जाता है, जिससे साम्प्रतिक वेदार्थ विरुद्ध सनातन व्याख्यान ग्रन्थ-प्रतिकूल अनर्थक वेद व्याख्यानों की निवृत्ति से सब मनुष्यों को वेदों के सत्यार्थ बोध से उनमें अत्यन्त प्रीति होगी ऐसा जानना चाहिए। वेदमन्त्रों के यथाशास्त्र और यथाबुद्धि सत्यार्थ के प्रकाशन-से सायणाचार्य आदि के द्वारा किया गया स्वेच्छानुचारी लोकप्रवृत्ति के अनुकूल लोक में प्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिए जो वेदभाष्य लिखकर प्रसिद्ध किया गया है उससे जगत् में महान् अनर्थ हुआ है। उसी के द्वारा योरोप देशवासी लोगों को भी वेदों के विषय में भ्रम हुआ है। जब ईश्वर के अनुग्रह से ऋषि-मुनि-महर्षि-महामुनि आदि आर्यों के द्वारा वेदार्थगर्भित ऐतरेयादि ब्राह्मणों आदि में उक्त प्रमाणों से युक्त मेरे द्वारा किया गया भाष्य प्रसिद्ध हो जाएगा तब सब मनुष्यों को महान् सुख का लाभ होगा ऐसा जानना चाहिए।

इस वेदभाष्य में जिस-जिस मन्त्र के पारमार्थिक और व्यावहारिक दो अर्थों का श्लेष आदि अलङ्कारों द्वारा सप्रमाण सम्भव होगा उस-उस के दो-दो अर्थ करेंगे। परन्तु ईश्वर का एक भी मन्त्रार्थ में अत्यन्त त्याग नहीं होता। क्योंकि निमित्तकारण ईश्वर के इस कार्य जगत् में सर्वाङ्गों में व्याप्तिवाला होने से, कार्य जगत् का ईश्वर के साथ अन्वय होने से तथा जहाँ निश्चय से [केवल] व्यावहारिक अर्थ होता है, वहाँ भी ईश्वर की रचना के अनुकूलता से ही सब पृथिव्यादि [कार्य] द्रव्यों का सद्भाव होने से। इसी प्रकार पारमार्थिक अर्थ करने पर भी [ईश्वर के साथ] कार्यरूप [जगत् का] सम्बन्ध होने से वह अर्थ भी [स्वतः] प्राप्त हो जाता है।

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट का सुन्दर और प्रामाणिक प्रकाशन

प्राचीन आर्ष वाङ्मय से सम्बद्ध तथा ऋषि दयानन्द कृत ग्रन्थ

१. यजुर्वेदभाष्य-विवरण (प्रथमभाग)—इस ग्रन्थ में महर्षि दयानन्द प्रणीत यजुर्वेदभाष्य के प्रथम दस अध्यायों पर ऋषिभक्त वेदमर्मज्ञ स्वर्गीय श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु कृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। मूल वेदभाष्य को ऋषि के हस्तलेखों से मिलान करके छापा गया है। विस्तृत भूमिका तथा वेद विषयक विविध टिप्पणियों से युक्त। बढ़िया कागज, सुन्दर मुद्रण, सुदृढ जिल्द। मूल्य १६-००।

२. ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्म-चरित्र— मू० ०-५०।

३. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन परिशिष्ट सहित—सं० श्री पं० भगवद्दत्तजी। मू० ७-७५

४. संस्कारविधि—ले० महर्षि दयानन्द सरस्वती। द्वितीय संस्करण पर आधृत, अजमेर-मुद्रित संस्करणों के दोषों से रहित; टिप्पणियों से युक्त; शुद्ध मनोहर मुद्रण। अजिल्द १-६५, सजिल्द २-२५।

५. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—सं० युधिष्ठिर मीमांसक। मोटे टाइप, बड़े आकार में सुन्दर शुद्ध और सटिप्पण संस्करण। मूल्य १२-००, परिशिष्ट १-५०

६. निरुक्त-शास्त्र—श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत। नैरुक्त-प्रक्रियानुसारी हिन्दीभाष्य सहित। मू० १५-००।

७. अष्टाध्यायी-भाष्य—प्रथमावृत्ति अर्थात् पदच्छेद, विभक्ति, समास, अनुवृत्ति, अर्थ, उदाहरण तथा सिद्धि सहित। श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासुकृत। मू० भाग १, १२·००। भाग २, १०·००। भाग ३, १०·००।

८. उरुज्योति अर्थात् वैदिक अध्यात्मसुधा—वैदिक अध्यात्मविषयक उच्चकोटि के लेखों का अनुपम संग्रह। ले० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल। मू० ३-००।

९. ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। इसमें मुद्रित अमुद्रित सभी ग्रन्थों का पूरा इतिहास और विवरण दिया है। मू० अजिल्द ३·००, सजिल्द ४·००।

१०. वैदिक छन्दोमीमांसा—वैदिक छन्दःसम्बन्धी विवेचनात्मक सर्वोत्तम ग्रन्थ। उत्तर प्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत। ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। मू० ४-५०।

११. वैदिक-स्वर-मीमांसा—संशोधित-परिवर्धित द्वितीय संस्करण। वैदिक स्वर विषयक सर्वश्रेष्ठ विवेचनात्मक ग्रन्थ। उत्तर प्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत। ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। मू० ४-००।

१२. वैदिक ईश्वरोपासना—पातञ्जल योगदर्शन के अत्युपयोगी सूत्रों की ऋषि दयानन्दकृत व्याख्या। आर्ट पेपर पर सुन्दर दुरङ्गी छपाई। मुखपृष्ठ पर आकर्षक ऋषि-चित्र। मू० ०-३१।

१३. वाल्मीकि-रामायण—हिन्दी अनुवाद सहित। अनुवादक तथा परिशोधक—पं० अखिलानन्द जी झरिया। बालकाण्ड द्वि० सं० छप रहा है। अयोध्याकाण्ड मूल्य ३-५०। अरण्य-किष्किन्धाकाण्ड मूल्य ४-५०। सुन्दरकाण्ड मूल्य २-७५

१४. ध्यानयोग-प्रकाश—ले० ऋषिदयानन्द से योग शिक्षा ग्रहण करने वाले महायोगी महात्मा स्वामी लक्ष्मणानन्द जी। अपने विषय का अनूठा ग्रन्थ। द्वितीय संस्करण मू० ३-२५।

१५. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास—पं० युधिष्ठिर मीमांसक। ग्रन्थ में आज तक के प्रमुख वैयाकरणों तथा उनके ग्रन्थों का इतिहास दिया गया है। मू० भाग १, १५-००, भाग २, १५-००।

१६. सं० व्या० में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि—डॉ० कपिलदेव। मूल्य ८-००।

१७. अष्टोत्तरशतनाममालिका—लेखक पं० विद्यासागर जी शास्त्री एम० ए०। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में व्याख्यात ईश्वर नामों की विस्तृत व्याख्या। मूल्य अजिल्द ५-००, सजिल्द ६-००।

१८. भागवत-खण्डनम्—ऋषिदयानन्द का प्रथम ग्रन्थ। भाषानुवाद सहित। मूल्य ०-५०।

१९. ऋग्वेद की ऋक्संख्या—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। ऋग्वेद ... के सम्बन्ध में जो घोर विवाद है उसका स्पष्टीकरण तथा वास्तविक संख्या का निदर्शन। मू० ०-...।

२०. आचार्य पाणिनि के समय विद्यमान संस्कृतवाङ्मय—लेखक पं० युधिष्ठिर मीमांसक। प्राचीन संस्कृत वाङ्मय की विपुलता की एक झांकी। मू० १-००।

२१. दयानन्द-जीवनी-साहित्य—श्री पं० विश्वनाथ जी शास्त्री एम० ए०। ऋषि दयानन्द के जीवन के सम्बन्ध में लिखे गये सम्पूर्ण ग्रन्थों की प्रामाणिक सूची। मू० ०-४०।

२२. विरजानन्द प्रकाश—श्री पं० भीमसेन जी शास्त्री एम० ए०। श्री स्वामी विरजानन्द जी का अनुसन्धानपूर्ण प्रामाणिक जीवन-चरित्र। मूल्य २-००।

२३. वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त विविध स्वराङ्कनप्रकार—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। मूल्य अजिल्द १-५०, सजिल्द ३-००।

२४. संस्कृत पठनपाठन की अनुभूत सरलतम विधि—लेखक श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु। इस ग्रन्थ में संस्कृत भाषा के सुगमतापूर्वक बोध के लिये ४४ पाठ दिए हैं। मू० १-५०।

२५. क्षीरतरङ्गिणी—क्षीरस्वामिकृत पाणिनीय धातुपाठ की प्राचीनतम व्याख्या। मू० १२-००

२६. वामनीय-लिङ्गानुशासनम्—स्वोपज्ञवृत्तिसहितम्। मू० अजिल्द २-००, सजिल्द ३-५०।

२७. निरुक्तसमुच्चयः—आचार्य वररुचिकृत। नैरुक्तसम्प्रदाय का प्रामाणिक ग्रन्थ। मूल्य ५-००।

२८. भागवृत्ति-संकलनम्—अष्टाध्यायी की एक प्राचीन अत्यन्त प्रामाणिक महत्त्वपूर्ण विलुप्त व्याख्या के २०० उद्धरणों का संकलन। मू० ३-००

२९. काशकृत्स्न-धातुव्याख्यानम्—कन्नड टीका का संस्कृत रूपान्तर। पं० यु० मी०। मूल्य ६-२५

३०. काशकृत्स्न-व्याकरणम्—काशकृत्स्न व्याकरण का इतिहास और उसके उपलब्ध १४० सूत्रों की व्याख्या (संस्कृत)। संस्कर्ता पं० यु० मी०। मू० ३-००।

३१. अष्टाध्यायी मूल—अत्यन्त शुद्ध संस्करण। संस्कर्ता पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु। मू० ०-७५

३२. शिक्षासूत्राणि—आपिशलि पाणिनि और चन्द्रगोमीप्रोक्त मूल्य १-५०।

३३. बृहद् हवनमन्त्र—मन्त्रों का शब्दार्थ तथा भावार्थ हिन्दी में। पं० रामावतारशर्मा। ०-७५

३४. प्यारा ऋषि—ऋषि दयानन्द की प्रमुख घटनाओं का संग्रह (बालोपयोगी)। मूल्य ०-५०।

३५. ऋग्वेद भाषाभाष्य—(भाग १) ऋषिदयानन्द कृत ऋग्वेदभाष्य का भाषानुवाद। मू० २-५०

३६. आर्याभिविनय—ऋग्यजुः के १०० मन्त्रों की आध्यात्मिक व्याख्या। लेखक ऋषि दयानन्द। दोरङ्गी सुन्दर छपाई। गुटका साईज सजिल्द। मू० १-००।

३७. व्यवहारभानु— मूल्य ०-२५ ३८. आर्योद्देश्यरत्नमाला— मूल्य ०-०६

३९. हवनमन्त्र— मूल्य ०-०६ ४०. सन्ध्योपासनविधि—(नया सं०) मू० ०-१०

४१. सन्ध्योपासन-हवनमन्त्र-सहित—मू० ०-१० ४२. अमीरसुधा—(भजनसंग्रह) मू० ...

रामलाल कपूर एण्ड संस पेपर मर्चेण्ट्स

गुरुबाजार, अमृतसर। नई सड़क, देहली। बारी मार्केट सदर बाजार, देहली। विरहाना रोड, कानपुर। ५१ सुतार चॉल, बम्बई। वेदवाणी कार्यालय, अजमतगढ़ पैलेस, वाराणसी-१